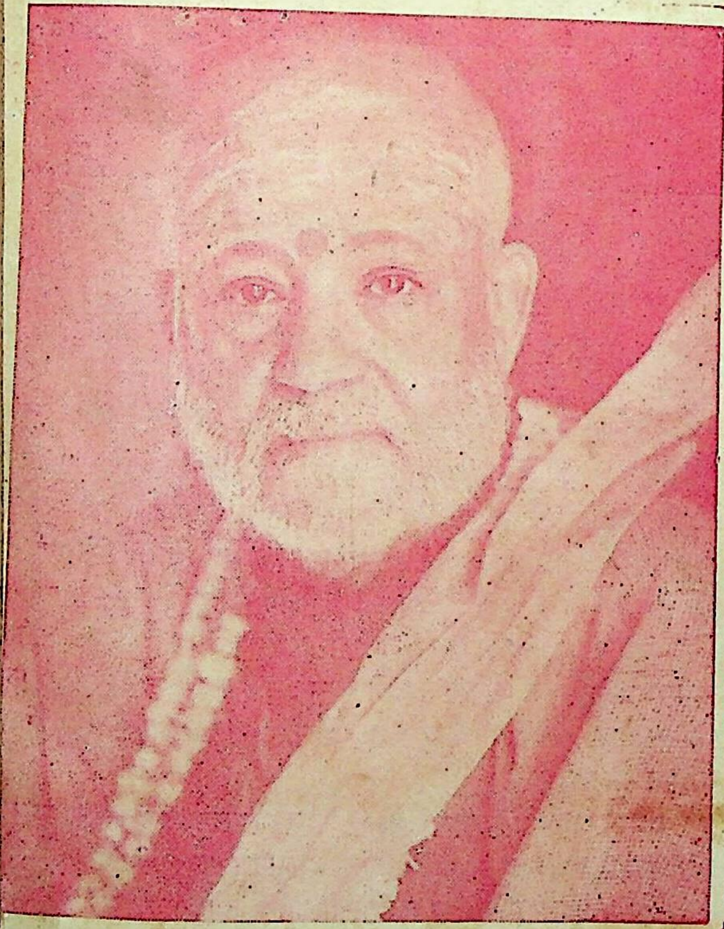
दिव्यानन्द

वर्ष 5 - 1971

सिद्धमहायोग सम्बन्धी एकमेव त्रैमासिक

दिव्यानन्द



ब्रह्मलीन १००८ श्री स्वामी पुरुषोत्तमतीर्थ जी महाराज

वर्ष : ५] जनवरी-मार्च १९७१ [अङ्क : १

इस अंक में

आश्रम समाचार

श्री १०८ स्वामी शिवोमृतीर्थ जी महाराज १६-६-७० को ऋषिकेश पधारे थे और ३१-१२-७० को वापिस देवास पधार गये।

अक्टोबर में अहमदाबाद से श्री रमणीक लाल जी की सूचना मिली कि श्री गुरुदेव की प्रतिमा का माडल तैयार है। उसे देखने के लिए वे अहमदाबाद गए थे। अल्प संशोधनादि के पश्चात् माडल की स्वीकृति दे दी गई है और माडल अहमदाबाद से जयपुर पहुँचा दिया गया। अब यह स्पष्ट आशा हो गई है कि गुरुपूर्णिमा से पूर्व देवास में प्रतिमा के दर्शन हो सकेंगे।

अहमदाबाद से आप दो दिन के लिए बड़ौदा भी गए और वहाँ से गरुड़ेश्वर जाकर स्वामी वासुदेवानन्द सरस्वती महाराज की समाधि के दर्शन किए और देहली होते हुए आप ऋषिकेश वापिस आ गए।

नवम्बर २० को आप १०-१२ दिन के लिए नङ्गल (भाखड़ा) और कांगड़ा भी गए। इस काल में आपने भगवती के सिद्धपीठ नयनादेवी, चिन्तपूरणी, ज्वालामुखी और नगरकोट (काँगड़ा) के दर्शन किए। इस यात्रा में श्री गङ्गाप्रसाद गुप्त आप के साथ रहे। सम्प्रति स्वामी जी देवास में विराजमान् हैं।

—व्यवस्थापक

सिद्ध-महायोग सम्बन्धी एकमेव त्रैमासिक

दिव्यानन्द

वर्ष : ५] जनवरी-मार्च १९७० [अङ्क : १

प्रेरणा के स्रोत—

शक्तिपातप्रवर्तक श्री स्वामी नारायणतीर्थदेव

शक्तिपाताचार्य श्री स्वामी विष्णुतीर्थ

●

उद्देश्य—

लोककल्याणार्थ सिद्धसाधन शक्तिपात सम्बन्धी गवेषण, अनुसन्धान एवं ज्ञातव्य-प्रकाशनादि द्वारा श्रेयपथप्रशस्ति

●

वार्षिक शुल्क—

तीन रुपया

●

आजीवन सदस्यता-शुल्क—

१०१ रुपये

●

प्रकाशन-मास—

जनवरी, अप्रैल, जुलाई, अक्टोबर

●

प्रकाशन-स्थल

नारायण कुटी, संन्यास आश्रम,
देवास (म०प्र)



अपने बारे में

प्रस्तुत अंक से 'दिव्यानन्द' अपनी आयु के पाँचवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। मुझे अपना यह अनुभव व्यक्त करते हुए गर्व एवं संतोष होता है कि हमारे पाठकों ने दिव्यानन्द में पूर्ण रुचि का प्रदर्शन किया है। बीच में एक बार पत्रिका के लिए कठिन समय भी आया। ब्रह्मलीन श्री गुरुदेव की रुग्णावस्था के दो वर्ष का समय काफी कठिनाई का था क्योंकि तब हम सब का लक्ष्य महाराज श्री पर ही केन्द्रित था, किन्तु मेरे सहयोगियों श्री स्वामी नारायणदेव तीर्थ महाराज तथा लाला गङ्गाप्रसाद गुप्त ने पूर्ण सहयोग दिया तथा मुद्रक के नाते श्री देवेन्द्र विज्ञानी जी की सहायता से उस कठिन समय में भी पत्रिका का क्रम निरन्तर बना रहा। मैं अपने पाठकों, लेखकों, सहयोगियों एवं शुभ-चिन्तकों के प्रति आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

आर्थिक दृष्टि से दिव्यानन्द अपने आरम्भ से अभी तक घाटे में चल रहा है। हमारे कतिपय पाठक ऐसे भी हैं जो पत्रिका में रुचि तो पूरी रखते हैं, यदि कभी पत्रिका प्राप्त न हो अथवा विलम्ब हो जाए तो पत्र लिख कर पूछ-ताछ भी करते हैं, किन्तु शुल्क भेजने में अधिक उत्साह नहीं दिखाते। हमारे

व्यवस्थापक महोदय शुल्क भेज देने के लिए पत्रिका के आरम्भ में लाल रंग का स्मरण-पत्र भी लगा देते हैं, किन्तु सम्भवतया वह स्मरण-पत्र कुछ सज्जनों का ध्यान आकृष्ट नहीं कर पाता। मुझे व्यक्तिगत रूप में तो अधिक असुविधा नहीं होती, किन्तु हमारे व्यवस्थापक महोदय, जिनको बिलों की अदायगी करनी पड़ती है, मेरे पास आकर झुँझलाते हैं और शुल्क न भेजने वालों की सूची पढ़-पढ़ कर सुनाते हैं। अतः 'अब की बार सम्पादकीय में लिखूंगा'—कहकर उन से अपनी जान छुड़ाई है।

महँगाई दिन-प्रति-दिन बढ़ रही है, कागज के भाव आसमान छूने लगे हैं, छपाई के रेट भी चढ़ाव पर हैं और डाक-व्यय तो सब पर स्पष्ट ही है। आय का एक साधन विज्ञापन हो सकते हैं, किन्तु उन्हें हम स्वीकार नहीं करते और न ही अभी तक ऐसा विचार ही है। इन परिस्थितियों में व्यवस्थापकों की कठिनाइयों को सहज ही समझा जा सकता है। मैं आशा करता हूँ कि पाठक इन सब बातों पर विचार करके अपने कर्तव्य का निर्णय करेंगे।

एक बात और! दिव्यानन्द में पत्रावली शीर्षक के अन्तर्गत ब्रह्मलीन श्री गुरुओं के पत्र छप रहे हैं। हमारे पास जितने पत्र प्राप्त हुए हैं, वह प्रायः छप चुके हैं। केवल थोड़े से ही शेष हैं। मैं आशा करता हूँ कि कई लोगों के पास कितने ही ऐसे पत्र हैं जो प्रकाश्य हैं। यदि दूसरे लोगों को लिखे गए पत्र प्रकाशित होकर हमें पढ़ने का लाभ प्राप्त हुआ तो हमें लिखे गए पत्र भी दूसरे लोगों को पढ़ने को मिल सकें, इस में हमारी क्या हानि है? अतः मैं उन सज्जनों से, जिन के पास ऐसे पत्र हों, मूल पत्र अथवा उन की प्रतिलिपियाँ भेजने का अनुरोध करता हूँ।

—शिवोमृतीर्थ

गान्धी जी के रामराज्य की कल्पना सम्भव है,—असम्भव नहीं

[लेखक—पूज्यपाद श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी]

स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् देश के सामने जो बहुमुखी समस्याएँ उग्र रूप धारण करके आ-खड़ी हो रही हैं, उनका विचार किसी के दिमाग में पहिले न था। उस समय देश का प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता की लड़ाई में व्यस्त था, उसको मानो यह सोचने का अवसर भी नहीं मिलता था कि स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर हमको अपना घर सँभालने के लिये क्या-क्या करना पड़ेगा और स्वतन्त्रता की देवी अपने साथ किन-किन कठिनाइयों को लायेगी। हम समझते थे कि विदेशी साम्राज्य के शिकंजे से मुक्त होते ही सम्पूर्ण ऋद्धि-सिद्धियों समेत सुख-स्मृद्धि का स्वर्णाभ रामराज्य सर्वत्र छा जायगा। परन्तु आज की परिस्थितियाँ हमारे उन सुख-स्वप्नों के बिलकुल विपरीत हैं। देश के बाहर की ओर जब दृष्टि जाती है, तो हम देखते हैं कि हमारे पड़ौसी पाकिस्तान और चीन की द्वेष-पूर्ण नीति का आतङ्क दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। उधर सुदूर पश्चिम में तीसरे विश्वयुद्ध के काले बादल प्रतिदिन घनीभूत होते जा रहे हैं।

विश्व के इन विरोधी शक्ति-गुटों की रस्सा-कशी में भारत का भाग्य क्या पलटा लेता है, यह आशंका निर्माण के मार्ग में

बराबर [illegible] रही है। सारा राष्ट्र चिन्ता-ग्रस्त और विचलित है।

घरेलू मामलों की ओर देखने पर सर्वत्र पार्टीबन्दी तथा द्वेष-पूर्ण प्रतिद्वंदिता का नग्न ताण्डव देश की संगठित शक्ति को खंड-खंड करता दिखाई दे रहा है। व्यापार नष्ट हो रहा है, जनता की आँखों में धूल झोंककर काले बाज़ार के द्वारा धनाढ्य बनने की चातुरी का नाम व्यापार समझा जाने लगा है। उद्योगों के अभाव में साधारण जनता येन-केन-प्रकारेण आधा पेट सोकर निराशा भरी दृष्टि से दूसरे दिन का प्रभात देखती है। डाके, चोरी, कत्ल, ठगी, जेब-कटी की घटनाओं से समाचार-पत्रों के कालम रंगे रहते हैं। न युवकों में संयम है, न बड़ों में शालीनता।

किसी भी समाज का भविष्य उसकी शिक्षण-पद्धति, घरेलू रहन-सहन और उसके सांस्कृतिक अनुशासन पर निर्भर करता है। मनुष्य जैसा बाल्यावस्था में अपने घर के अन्य लोगों को देखता है, जैसे वातावरण में पलता है और जैसे बाल-सखाओं के साथ खेलता-कूदता है, वैसे ही संस्कार उसके भावी जीवन की पृष्ठ-भूमि बन कर आजीवन उसे भलाई अथवा बुराई की ओर प्रेरित करते रहते हैं।

आज की मांग है कि देश की शिक्षण-पद्धति में आमूल परि-वर्तन किये जायँ। बालकों के बुद्धि-विकास के साथ-साथ उन्हें चरित्रवान्, सभ्य नागरिक बनाने के सारे प्रयत्न काम में लाये जायँ। एक विद्वान् बदमाश या गुण्डे की अपेक्षा एक सरल-चित्त सभ्य, चरित्रवान् अशिक्षित मनुष्य अच्छा है। कोई भी समाज किसी भी बड़े से बड़े विद्वान् और बुद्धिमान् मनुष्य को सहन करने को तैयार नहीं हो सकता, यदि उससे समाज को खतरा हो। माता-पिता का यह प्रथम कर्तव्य है कि वे अपने

बालकों को अच्छा नागरिक बनाने का भरसक प्रयत्न करें। हमारे यहां मदालसा जैसी आदर्श माताएँ थीं। मदालसा भारत की एक राजरानी थी जिसने अपने पुत्रों को ब्रह्मज्ञानी बनाया था। उसकी कीर्ति-गाथा पुराणों तक ने गाई है। जब उसके पुत्र का जन्म होता था, तब वह राजा से पूछती, 'आप पुत्र को कैसा बनाना चाहते हैं ?' राजा इस प्रश्न पर सदा मौन रहता और मदालसा उन पुत्रों को उनके शैशव-काल से ही ऐसे उपदेश देने लगती कि बड़े होकर वे सब राज्याभिलाषा का त्याग करके वनों को चले जाते। अन्त में जब राजा ने देखा कि उसकी राजगद्दी का उत्तराधिकारी एक भी पुत्र होने को तैयार नहीं, तब उसने रानी से कहा कि राज्य कौन सँभालेगा ? एक पुत्र तो कम से कम राज्याधिकारी बने ! अतः महारानी मदालसा की शिक्षा से उनका अन्तिम पुत्र 'अलर्क' एक प्रतापी राजा बना।

आज हमारे देश को मदालसा जैसी माताओं की आवश्यकता है जो भारत के पुनर्निर्माण-कार्य में योग दे सकें। माता प्रथम गुरु है, पिता द्वितीय और आचार्य अथवा शिक्षक अन्तिम गुरु कहलाता है। परन्तु देश की आज ऐसी शोचनीय अवस्था है कि न तो माता-पिता का बालकों पर शासन रहा है और न शिक्षकों का छात्रों पर। उसी के परिणाम-स्वरूप आजकल के नवयुवकों का आचरण उच्छृङ्खल, असंयत, चरित्र-हीन और उन्मार्गी होता जा रहा है। नियंत्रण (discipline) का अभाव समाज के प्रत्येक क्षेत्र को छिन्न-भिन्न कर रहा है। अंग्रेजों से हमने उनकी समाज की कुरीतियों की नकल सीख ली, अपने देश के हित के उनमें जो श्रेष्ठ अनुकरणीय गुण थे, वे उनसे नहीं सीखे। राष्ट्र और सम्मान की रक्षा के हेतु तथा उसकी आर्थिक उन्नति के लिए अपने व्यक्तित्व को न्यौछावर करने का एक-सूत्रीय बन्धन

और कठोर संयम भी तो अंग्रेजों से सीखने योग्य था। किन्तु

आज हम उस पुत्र के सदृश हैं जो घृणित आत्म-तुष्टि के वश अपने पिता के घर से चोरी करके अपना अभ्युदय चाहता है। भारतवर्ष एक उजड़ा हुआ घर है जिसका शोषण गत १००० वर्ष के दीर्घकाल से विदेशियों द्वारा होता रहा है। गान्धी जी को राष्ट्र-पिता का सम्मान दिया गया है, क्योंकि उन्होंने देश को बंधन से मुक्त कर और हमारे हाथों सौंप कर एक कर्मनिष्ठ पिता का कार्य किया है। किन्तु राष्ट्र-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् आज उनकी छोड़ी विरासत के जो उत्तराधिकारी हैं, वे उस उच्चादर्श का पालन कहाँ तक कर रहे हैं ? इसे सारा देश विक्षुब्ध होकर देख रहा है।

आज देश के प्रत्येक नागरिक को सोचना चाहिये कि हमारा कर्तव्य क्या है ? उसे अपने को एक घर अथवा एक ही कुटुम्ब के सदस्य के नाते देश के सार्वजनिक हित की रक्षा के लिए अपने वैयक्तिक स्वार्थ को हेय समझना चाहिये। क्या एक मन्त्रि-पदारूढ़ व्यक्ति अथवा न्याय की कुर्सी पर बैठा न्यायाधीश, शुल्क-कर्मचारी (custom officer), पुलिस-विभाग का अफ़सर अथवा अन्य किसी विभाग का कर्मचारी रिश्वत लेकर देश को उतनी ही आर्थिक हानि नहीं पहुंचाता जितनी कि एक जेबकट या डाकू ? यदि एक इंजीनियर, जिसको एक नदी का बांध बनाने का कार्य सौंपा गया है, जितना मसाला उसके बनाने के लिए आवश्यक है, उसका कुछ भाग काले बाजार में बेचकर अथवा ठेकेदार से मिलकर बाँध के निर्माण में कमजोरी रख देता है और वह बाँध अपनी पूरी मियाद से पूर्व ही टूट जाता है तथा हजारों प्राणियों के जीवन को खतरे में डाल देता है तो वह एक हत्यारे से किस दशा में कम है ? इसी प्रकार यदि कोई

ग्रामीण द्वेषवश किसी पड़ोसी की खड़ी खेती में आग लगाकर अपनी शत्रुता निकालता है तो उसमें तथा एक डाकू में क्या अन्तर है ?

मंत्रियों तथा विदेशों में नियुक्त राजदूतों से लेकर एक चपरासी और रेलवे का काँटे वाला (pointsman), सरकारी-अर्द्धसरकारी कोई भी व्यक्ति जो ऊँचे तथा नीचे पद पर कार्य कर रहा है और देश के हित-कार्य के निमित्त वहाँ नियुक्त हुआ है, उसने जानकर अथवा अनजाने देश के हित की शपथ ली हुई है, यदि वह वैतनिक अथवा अवैतनिक कर्मचारी अपने कर्तव्य की अवहेलना करता है अथवा उसे अपने वैयक्तिक स्वार्थ-सिद्धि का साधन बनाता है, तो क्या वह देश का महान् शत्रु और द्रोही नहीं है ? इसी प्रकार जनता का प्रत्येक वह व्यक्ति जो देश के नागरिक की हैसियत से अपने निर्धारित कार्यों में प्रमाद करता है, वह देश के साथ गद्दारी करने का दोषी होता है।

स्वतन्त्र देश का स्वतन्त्र नागरिक मनमानी करने का अधिकार नहीं रखता, वह इस स्वतन्त्र देश के विशाल निर्माण-कार्यालय का एक संयमी पुर्जा है जो खराब हो जाने पर सारी मैशीनरी (machinary) को अस्त-व्यस्त कर सकता है। एक किसान अपने खेत पर, एक वणिक अपनी दुकान पर, एक सरकारी कर्मचारी अपने पद पर और एक राहगीर अपने यात्रा-पथ पर, सब एक समान देश का कार्य कर रहे हैं। किसी का कार्य छोटा या बड़ा नहीं कहलाता। अपने-अपने स्थान पर सब का कार्य समान महत्व का है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति देश के सामूहिक कार्यक्रम का अंग है। किंबहुना यदि भारत का प्रत्येक नागरिक देश-हित की शुद्ध, सात्विक भावना से प्रेरित होकर सच्चे दिल

[शेष पृष्ठ ६ के नीचे]

मेरे संस्मरण

—श्री मंगतराय गर्ग, रायपुर—

बात सन् १९५४ की है। उस समय हमारा कार्यालय ग्वालियर में था। विधान-सभा का सत्र आरम्भ होने वाला था। तत्कालीन जेल-मन्त्री महोदय को अपने विभाग से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों के उत्तर देने थे। उस सम्बन्ध में एक अत्यन्त गोपनीय पत्र कुछ जानकारी उपलब्ध करने हेतु हमारे कार्यालय में प्राप्त हुआ। मैंने वह पत्र एक विश्वसनीय क्लर्क को जानकारी एकत्रित करने के लिये दे दिया। एक सप्ताह के अन्दर उत्तर माँगा गया था। वह कर्मचारी उस पत्र को अपने बक्स में रखकर भूल गया और मुझे भी अन्य कार्यवश उस का स्मरण न रहा। अतः सत्र आरम्भ हो जाने पर भी जब पत्र का उत्तर नहीं गया तो जेल-सचिव का पत्र आया कि उपरोक्त पत्र का उत्तर न आने का उत्तरदायित्व किस का है? उसे बरखास्त कर के उत्तर तुरन्त दिया जावे।

[पृष्ठ ८ का शेष]

से अपनी सामाजिक एवं वैयक्तिक दिनचर्या को सत्य और अहिंसा के अनुष्ठान द्वारा पावन रखने का दृढ़ संकल्प करता है, तो महात्मा गांधी की आत्मा को तृप्त करनें वाला रामराज्य बिना किसी यत्न के आविर्भूत हो सकता है, क्योंकि उनकी 'राम राज्य' की कल्पना 'सत्य' पर आधारित है और 'सत्य' शाश्वत है।

ग्रामीण द्वेषवश किसी पड़ोसी की खड़ी खेती में आग लगाकर अपनी शत्रुता निकालता है तो उसमें तथा एक डाकू में क्या अन्तर है ?

मंत्रियों तथा विदेशों में नियुक्त राजदूतों से लेकर एक चपरासी और रेलवे का कांटे वाला (pointsman), सरकारी-अर्द्धसरकारी कोई भी व्यक्ति जो ऊँचे तथा नीचे पद पर कार्य कर रहा है और देश के हित-कार्य के निमित्त वहाँ नियुक्त हुआ है, उसने जानकर अथवा अनजाने देश के हित की शपथ ली हुई है, यदि वह वैतनिक अथवा अवैतनिक कर्मचारी अपने कर्तव्य की अवहेलना करता है अथवा उसे अपने वैयक्तिक स्वार्थ-सिद्धि का साधन बनाता है, तो क्या वह देश का महान् शत्रु और द्रोही नहीं है ? इसी प्रकार जनता का प्रत्येक वह व्यक्ति जो देश के नागरिक की हैसियत से अपने निर्धारित कार्यों में प्रमाद करता है, वह देश के साथ गद्दारी करने का दोषी होता है।

स्वतन्त्र देश का स्वतन्त्र नागरिक मनमानी करने का अधिकार नहीं रखता, वह इस स्वतन्त्र देश के विशाल निर्माण-कार्यालय का एक संयमी पुर्जा है जो खराब हो जाने पर सारी मैशीनरी (machinary) को अस्त-व्यस्त कर सकता है। एक किसान अपने खेत पर, एक वणिक अपनी दुकान पर, एक सरकारी कर्मचारी अपने पद पर और एक राहगीर अपने यात्रा-पथ पर, सब एक समान देश का कार्य कर रहे हैं। किसी का कार्य छोटा या बड़ा नहीं कहलाता। अपने-अपने स्थान पर सब का कार्य समान महत्व का है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति देश के सामूहिक कार्यक्रम का अंग है। किंबहुना यदि भारत का प्रत्येक नागरिक देश-हित की शुद्ध, सात्विक भावना से प्रेरित होकर सच्चे दिल

[शेष पृष्ठ ६ के नीचे]

मेरे संस्मरण

—श्री मंगतराय गर्ग, रायपुर—

बात सन् १६५४ की है। उस समय हमारा कार्यालय ग्वालियर में था। विधान-सभा का सत्र आरम्भ होने वाला था। तत्कालीन जेल-मन्त्री महोदय को अपने विभाग से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों के उत्तर देने थे। उस सम्बन्ध में एक अत्यन्त गोपनीय पत्र कुछ जानकारी उपलब्ध करने हेतु हमारे कार्यालय में प्राप्त हुआ। मैंने वह पत्र एक विश्वसनीय क्लर्क को जानकारी एकत्रित करने के लिये दे दिया। एक सप्ताह के अन्दर उत्तर माँगा गया था। वह कर्मचारी उस पत्र को अपने बक्स में रखकर भूल गया और मुझे भी अन्य कार्यवश उस का स्मरण न रहा। अतः सत्र आरम्भ हो जाने पर भी जब पत्र का उत्तर नहीं गया तो जेल-सचिव का पत्र आया कि उपरोक्त पत्र का उत्तर न आने का उत्तरदायित्व किस का है? उसे बरखास्त कर के उत्तर तुरन्त दिया जावे।

[पृष्ठ ८ का शेष]

से अपनी सामाजिक एवं वैयक्तिक दिनचर्या को सत्य और अहिंसा के अनुष्ठान द्वारा पावन रखने का दृढ़ संकल्प करता है, तो महात्मा गांधी की आत्मा को तृप्त करनें वाला रामराज्य बिना किसी यत्न के आविर्भूत हो सकता है, क्योंकि उनकी 'राम राज्य' की कल्पना 'सत्य' पर आधारित है और 'सत्य' शाश्वत है।

यह पत्र जब हमारे इन्सपैक्टर जनरल ने मुझे दिखाया और मेरी कैफियत माँगी तो मैंने उस कर्मचारी से कहा कि क्यों न तुम्हारा नाम और बयान भेज दिया जावे ? वह कर्मचारी बुरी तरह रोने लगा कि मैं बाल-बच्चों वाला गरीब ब्राह्मण हूं, मारा जाऊँगा। कुछ विचार करने के उपरान्त मैंने हृदय में गुरुदेव का ध्यान किया और अपनी कैफियत में लिख दिया,—'इस के लिए मैं ही पूर्णतया दोषी हूं। जो उचित दण्ड हो, मुझे दिया जावे। मैं वह पत्र अपने बक्स में रखकर भूल गया था।'

मेरे इस उत्तर को जैसे का तैसा आगे भेजकर हमारे इन्सपैक्टर जनरल ने मुझ से कहा कि आपकी बरखास्तगी नहीं तो अवनती अवश्य होगी। मैं भी परिणाम भुगतने के लिए तैयार था और प्रतिदिन श्री गुरुदेव का ध्यान करता था। एक सप्ताह बाद पत्र आया जिसमें लिखा था,—'Such a daring superintendent is worth keeping but should be careful in future ऐसा स्पष्टवादी अधीक्षक रखने के योग्य है, किन्तु उसे भविष्य में सावधान रहना चाहिए।'

यह सब श्री गुरुदेव की कृपा के अतिरिक्त और क्या था ? यह कागज़ात अभी भी कार्यालय की फाइलों में सुरक्षित हैं।

× × ×

घटना सन् १९५६ के आसपास की है। मध्य भारत मध्य प्रदेश में विलीन हो जाने के कारण हमारा कार्यालय ग्वालियर से भोपाल स्थानान्तरित हो गया था। उस समय हमारी रिहायश की कोई व्यवस्था नहीं थी। कोई ५०० तम्बू लगा दिए गए थे। मैं अपने इन्सपैक्टर जनरल डा० भण्डारी के साथ उन के तम्बू में रहता था। अकस्मात् मेरे सुपुत्र (डा० ताराचन्द) का पत्र आया कि गुरुदेव काशी जा रहे हैं, रास्ते में

भोपाल आप के पास रुकेंगे। उन के ठहरने की व्यवस्था ठीक कर रखना। मैं कुछ असमञ्जस में पड़ गया कि मेरा स्वत: का ही कुछ ठिकाना नहीं है तो श्री गुरुदेव के ठहरने की व्यवस्था का क्या होगा ? किन्तु फिर भी चित्त में दर्शनों की आशा से बड़ी प्रसन्नता हुई।

मैं इसी चिन्ता में था। श्री गुरुदेव की गाड़ी आने में केवल चार घण्टे शेष थे कि हमारे पड़ौस में रह रहे शिक्षा-विभाग के डायरैक्टर अपना तम्बू खाली कर के ग्वालियर चले गए और तम्बू हमारे हवाले कर गये। गुरुदेव के साथ एक ब्रह्मचारी जी भी थे (जिन का शुभनाम अब याद नहीं रहा)। दोनों बड़े आनन्द से दो दिन ठहरे। हमारे इन्स्पैक्टर जनरल तो इतने प्रभावित हुए कि गुरुदेव से कुछ अधिक दिनों के लिए रुकने का कई बार आग्रह किया।

उस सहनिवासकाल में मैं एक दिन बाजार से दूसरे सामान के साथ मूली भी लाया, परन्तु मैंने यह सोच कर कि प्रातः समय चाय आदि के साथ मूली सरीखी वस्तु देना ठीक नहीं, अपने रसोइया से कह दिया कि यह मूली तुम दोपहर में खा लेना। गुरुदेव ने उस दिन खिचड़ी बनवाई थी। खाते समय एक दम कहा,—'अरे भई, इस के साथ यदि मूली होती तो बड़ा अच्छा रहता! तुम ने इस में घी भी बहुत डलवा दिया है।' और तब मैं समझा कि गुरुदेव मेरी प्रेम से लाई गई मूली बिना चखे यों ही नहीं छोड़ेंगे। मूली उपस्थित कर दी गई।

× × ×

गत दीवाली के पश्चात् मेरे लघु भ्राता का स्वर्गवास हो जाने की सूचना मुझे मिली। इस सूचना पर मुझे हार्दिक वेदना हुई जो स्वाभाविक ही थी। मैं अपनी अन्तर्वेदना को दिन भर

तो दबाए रखता और किसी पर प्रकट नहीं होने देता था, किन्तु रात को सब लोगों के सो जाने के पश्चात् मेरा हृदय द्रवीभूत हो कर अश्रुपात होने लगता था।

एक दिन इसी प्रकार कुछ देर रोते रहने के उपरान्त मैं लेट गया और सोने का प्रयत्न करने लगा। रात के कोई दो बजे का समय था, मैं अभी अर्धतन्द्राभिभूत ही था कि अकस्मात् मैंने एक अद्भुत दृश्य देखा। देखता क्या हूँ कि हमारे परम गुरुदेव (श्री योगानन्द जी महाराज) सम्मुख खड़े हैं और कह रहे हैं— 'अरे अभागे! रोता क्यों है? सब संसारी जीव उस जगन्नियन्ता के नियन्त्रण में कैदी हैं। तू यथार्थ (जगत्) को सत्य मानता है, किन्तु यथार्थ तो एक स्वप्न है। यथार्थ को सत्य मत मान। यथार्थ भावना का प्रतिबिम्ब है और भावना भी स्वप्न ही है जो तेरी भावुकता का प्रतिबिम्ब है।'

इतना सुनते ही मैंने कहा—'महाराज! मेरी समझ में कुछ आया नहीं।' बोले,— 'अच्छा सो जा! हम फिर समझायेंगे।'

'लेकिन महाराज! कल आप क्या फिर दर्शन देंगे?' बोले,— 'यदि तेरी श्रद्धा सुनने की है तो कल फिर आऊँगा, किन्तु देख! कुछ खलल (विघ्न) न हो।' चलते समय धीरे से और कुछ कहा जो मैं समझ न सका।

मैं अचानक भड़भड़ाकर उठ बैठा। घड़ी देखी तो ठीक २-२५ हुए थे। उसी समय बिजली जलाकर सुने हुए शब्द लिख लिए कि भूल न जाऊँ।

दिन भर मैं बहुत परेशान रहा—'पर देख, कुछ खलल न हो'—यह शब्द बार-बार याद आ रहे थे, इस कारण किसी से कुछ कह भी नहीं सकता था। रात को मैं फिर उसी प्रकार परम गुरु महाराज के आगमन की प्रतीक्षा में रहा, किन्तु कुछ दिखाई

नहीं दे रहा था। मैं निराश-सा होकर सोचने लगा—'क्या महाराज भी झूठ कह सकते हैं कि मैं फिर समझाऊँगा अथवा यह भ्रम मात्र ही था।'

पाठक मानें या न मानें, ठीक दो बजे फिर दर्शन हुए और कहा,—'देख! तू इतना दुःख मत मान! तेरी भावुकता का प्रेम है जो दुःख का कारण हुआ है। पर पगले तू नहीं समझता कि प्रेम असीम है, उसे जीवन की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। प्रेम की आत्मा त्याग है और उस का देह स्वार्थ! तू जिसे प्रेम समझ रहा है, यह तेरा मोह है जो विनाश के सिवा कुछ नहीं।'

'तो क्या, महाराज! यह मेरे किसी पाप का फल है जो बड़े से पहले छोटा गया।'

'पाप-पुण्य किसी के साथ पैदा नहीं हुए। मनुष्य के स्वार्थ से ही इन का जन्म हुआ है। प्रकृति के न्याय में कोई गलती सम्भव ही नहीं।'

मैंने कहा—'महाराज! हम प्रयत्न करने पर भी असफल क्यों रहते हैं।'

बोले—'अब समय नहीं है, और मैं ऐसे प्रश्न का उत्तर देने के लिए आया भी नहीं, परन्तु प्रसंगवश बताता हूँ। अपने विरुद्ध हुई किसी घटना के लिए हृदय मस्तिष्क को चुनौती देता है। यदि उस चुनौती में कुछ कमजोरी है तो मस्तिष्क लौटा देता है और फिर भी हृदय न मानें तो उस चुनौती को क्रियान्वित कर देता है। इसे ही असफलता कहते हैं। इसलिए हृदय पर नहीं, मस्तिष्क पर भरोसा रखो।'

'महाराज! अब केवल ऐसा उपाय बता दें कि चित्त सर्वदा

शान्त रहें, दुःख व क्रोध में रहें और गुरुदेव (स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज) के भी दर्शन हो सकें।'

'क्रोध वातावरण अथवा वायुमण्डल की उपज है। शान्ति के लिए यह मन्त्र सोते समय जपा करो गुप्त रूप से............ तुम्हारे गुरु की प्रेरणा पर ही मुझे आना पड़ा।'

इतने में मेरी पत्नी ने आवाज दी कि क्या बड़बड़ा रहे हो? आँखें खुल गईं और मैं यह कह कर कि कुछ आवश्यक बात याद आई है, लिखना है, जैसे ही नोट कर रहा था कि मन्त्र जो दिया गया था, क्रोध में आधा याद से उतर गया। अब उस आधे मन्त्र को सद्गुरुदेव से पूरा कराने का प्रयत्न करूँगा। गुप्त होने के कारण ऐसा करने के अतिरिक्त और उपाय भी क्या है?

इस के उपरान्त मैं तीन-चार रात सो न सका और फिर मैंने समझा कि इस खलल की चेतावनी मुझे पहले ही दे दी गई थी।

× × ×

इसी प्रकार सन् १९६४ में, जब मैं घरेलू झगड़ों से अत्यन्त दुःखी और परेशान हुआ था, तब भी इन्हीं परम गुरुदेव का दर्शन हुआ था जिस में उन्होंने मुझे घर न छोड़ने का सूत्र रूप में आदेश दिया था। जब इस अनुभव की चर्चा मैंने अपने परम पूज्य गुरु जी स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज से की तो उन्होंने मुझे पाँच वर्ष तक इसे गुप्त रखने का आदेश दिया था, क्योंकि प्रकट कर देने से फिर दर्शन होने की सम्भावना ही न रहती। अब पाँच वर्ष की अवधि पूरी हो गई है, अतः पाठकों के अवलोकनार्थ मैं उसे 'दिव्यानन्द' के अगले अंक में लिखने का प्रयत्न करूँगा।

—:○:—

पत्रावली

[यदि आपके पास श्रीगुरुओं के कोई उपदेशात्मक पत्र हों तो दूसरों को भी उनसे लाभान्वित करने के लिये इस स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशनार्थ मूल पत्र अथवा उसकी प्रतिलिपि भेजने का कष्ट करें।

—सम्पादक]

[गुजराती से अनूदित]

विज्ञान भवन, ऋषिकेश।

१९-१-५८

श्रीमान् जी,

परम शुभाशीर्वाद ! सविशेष समाचार ज्ञात होकर प्रसन्नता हुई। श्री स्वामी जी महाराज (श्री स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज) की महत् कृपा से आप को दीक्षा का लाभ हुआ, यह सौभाग्य की बात है। श्री स्वामी जी महाराज महापुरुष हैं। उन की कृपा का फल उन की गुरु-शक्ति आप के शरीर, मन और प्राण में अष्ट प्रहर क्रिया कर रही है। इस का प्रत्यक्ष अनुभव आप साधनकाल में नित्य कर रहे हैं, इसलिए इस विषय में कोई चिन्ता या शंका की बात है ही नहीं। इस शक्ति-साधन में योग शास्त्र में बताए हुए यम, नियम आदि का पालन करने को कहा है। तदनुसार करते रहने से मन, प्राण का उत्कर्ष साधित होगा और नित्य क्रिया में नाना प्रकार दिव्य अलौकिक अनुभव भी होंगे जिस से मन की शान्ति और आत्मतुष्टी सुख मिलेंगे। ऐसे

अनुभव की बातें सामान्य लोगों को कभी नहीं कहनी चाहियें। जो लोग अध्यात्म को मानते नहीं हैं या धर्म-कर्म करते नहीं हैं, उन को कहने से अपना उपहास होता है और मन में दुर्बलता उत्पन्न होती है। इसलिए ऐसी बातों को गुप्त रखने को शास्त्र में कहा है। इस विषय में महायोग विज्ञान के त्र्योदश प्रकाश पृष्ठ ३५६ पर जो विस्तार से लिखा गया है, उस को पढ़ना और विचारना।

व्यवहार और अध्यात्म परस्पर विपरीत धर्म वाले हैं, इसलिए इन दोनों को साथ चलाने के लिए पर्याप्त विचार करना पड़ता है। कारण, साधारणतः सांसारिक व्यवहार में लोग नाना प्रकार के मिथ्या व्यवहार, असत्य, कपट, छल करके अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। ऐसी अवस्था में अपनी सात्विकता, यम-नियम का पालन करना, व्रत की रक्षा करना कठिन हो जाता है क्योंकि अध्यात्म-पथ पर सत्यता, सरलता, शुद्धता, पवित्रता और प्रसन्नता ही साधक का कल्याण करते हैं। इसलिए अपने परम कल्याण के लिए प्रत्येक साधक को कभी मिथ्या व्यवहार नहीं करना चाहिए, ऐसा योग शास्त्र का कथन है। परन्तु वर्तमान देश-काल की परिस्थिति ऐसी है कि इस महाव्रत का पालन करने में सात्विक साधकों को बहुत कुछ सहन करना पड़ता है फिर भी यदि इस जन्म में कष्ट सहन करके व्रत की रक्षा की जाए तो वह जन्म-जन्मान्तर में परम सुखदायक होता है और सदा के लिए जन्म-मरण के दुःख से मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त होता है।

व्यवहार और परमार्थ की रक्षा के लिए हमें जो-जो कर्म करने पड़ते हैं, वह ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्तव्य समझ कर करने चाहिएं। इस में स्वयं को कर्ता न मानकर अनासक्त भाव

कर्मफल की इच्छा का त्याग कर निष्काम भाव से करते रहना चाहिए। ऐसा करने से कर्म मनुष्य को बंधनकारक नहीं होता है। इस का नाम गीता में भगवान् ने निष्काम कर्मयोग कहा है। यह निष्काम कर्मयोग ही परम कल्याणकारक है। इस से अर्थ और परमार्थ की सिद्धि होती है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष,—ये चतुर्वर्ग हैं। यह चतुर्वर्ग सिद्ध करने के लिए ही मनुष्य-जन्म की प्राप्ति हुई है। मनुष्य के जीवन में इन चारों की आवश्यकता है। प्रथम साधन धर्म है। धर्म का अर्थ यह है कि सात्विकता और सद्गुणों की शिक्षा लेना और धार्मिक जीवन व्यतीत करना। द्वितीय अर्थ धन उपार्जन करना। अपनी विद्या और बुद्धि-ज्ञान से परिश्रम करके प्रारब्ध योग से जो कुछ मिल जावे, उस का सदुपयोग करना। तृतीय कामना है। कामना का अर्थ यह है कि अपनी शुभ इच्छाएं—विवाह, संतान, सम्पत्ति, दान, पुण्य, यश, कीर्ति का कार्य करना और संसार के भोग भोगते हुए, मोक्ष की जिज्ञासा अभिमुख रख कर, भोग की इच्छा पूर्ण कर लेनी चाहिए जिस से फिर वासना न रहे। इस के साथ-साथ मोक्ष का साधन योग-क्रियां करते रहना चाहिए जिस से कि मन सांसारिक विषय में ही रम न जाय। इसलिए नित्य सावधान रहकर योग करना है। इस योग-साधन से ही ज्ञान द्वारा मोक्ष पाया जाता है, इसलिए योग को मोक्ष का साधन कहा है। चतुर्वर्ग-प्राप्ति का यही सहज उपाय है। धर्म, अर्थ, कामना के साथ-साथ मोक्ष का साधन योग करना ही चाहिए।

यह योग-साधन भी पूर्व जन्म के प्रबल पुण्यबल से ही सद्गुरु की कृपा से मिलता है। सामान्य लोगों के लिए यह वस्तु

महादुर्लभ है क्योंकि जब तक भगवान् की कृपा होती नहीं, तब तक दूसरी कोई कृपा कुछ कर नहीं सकती। भगवान् की कृपा कब होती है? जब कि विवेक-बुद्धि से मन में लगन हो और योग-प्राप्ति की प्रबल इच्छा हो तो भगवान् की प्रेरणा से आसानी से कोई सद्गुरु मिल जाते हैं।

सद्गुरु श्री स्वामी जी महाराज ने आप को परम शक्ति का दान किया है, आप को इस अध्यात्म-पथ का प्रदर्शन किया है। यह मार्ग सरल और सीधा राजपथ है। इसमें चलने में थोड़ा भी कष्ट नहीं है और चलाने वाली महा शक्ति आप को चला रही है, समय पर अवश्य गन्तव्य स्थान—ब्रह्मधाम—पहुंचा देगी। साधन तो भगवान् के भक्त लाखों लोग नित्य करते ही हैं, परन्तु अपना यह क्रिया-साधन ऐसा है कि इसकी तुलना किसी से नहीं हो सकती। संसार में ही रह कर सुखरूप ईश्वर से मिल जाना कितने अहोभाग्य की बात है! भगवान् को मिलने के लिए लोग नाना प्रकार के व्रत, जप, तप, त्याग, तपस्या कर के मिट जाते हैं, फिर भी उन्हें स्वप्न में भी भगवान् के दर्शन नहीं होते। परन्तु आप को स्वप्न में तो क्या, जागृत और सर्वदा भगवान् की शक्ति का दर्शन होता है। भगवान् की शक्ति ही आपको भगवान् से मिलाने के लिए ले जाती है। कहो! अपना भाग्य स्वयं ही देख लो। यह कोई कल्पना नहीं है, यह तो प्रत्यक्ष सत्य है और सद्गुरुदेव श्री स्वामी जी महाराज की कृपा और करुणा का फल है। आप उन की श्रद्धा और भक्ति से जो कुछ सेवा कर सकें, करें। उन्हीं के ज्ञान-ध्यान से समय पर आप को परम शान्ति मिलेगी। विशेष में आप उनसे समय-समय पर पत्र-व्यवहार करते रहिए। अपने अभ्यास में मन की जैसी स्थिति रहे, वह उन को ज्ञात कराते रहिए। अध्यात्म-पथ

में गुरुओं के सत्संकल्प से बहुत सहायता मिलती है, इसलिए सर्वदाकाल गुरुओं के संकल्प में रहना शास्त्र में कहा है।

क्रिया के विषय में जो कुछ करना है, जानना है, उन सब बातों का वर्णन महायोग ग्रन्थ में कर दिया है, आवश्यकतानुसार क्रमवार लिख दिया है। उस को पढ़ते रहना और विचार करते रहना चाहिए। जब तक बन सके तब तक व्यवहार में सावधानी से वर्तना कि जिस से अध्यात्म में विघ्न न आए। साधन में भी जब, जितना समय मिले, प्रमाद न करना। अपनी आत्मिक शक्ति में दृढ़ विश्वास रखकर सांसारिक आवश्यक सब काम करना। मन में भय, शंका या चिन्ता कभी नहीं करना। गुरु-शक्ति पर निर्भर रहकर सदा प्रसन्न रहना और समय मिलने पर सत्शास्त्र,—गीता, भागवत्, महाभारत, योगवासिष्ठ, उपनिषद्, योगदर्शन इत्यादि ग्रन्थों का पठन करना। गुजराती में महाराज नाथूराम शर्मा के बहुत ग्रन्थ हैं जिनमें गीता, पातञ्जल योग दर्शन, सांख्य दर्शन, योग प्रभाकर, प्रश्नोत्तर रूप विविध उपदेश, परमपद बोधिनी, १०८ उपनिषद् सार, शंकराचार्य के अष्टादश रत्न आदि मूल संस्कृत सहित गुजराती में सटीक मिलते हैं।

घर में सब को हमारा स्नेहयुक्त आशीर्वाद।

मंगलाकांक्षी,

योगेन्द्र विज्ञानी

●

प्रश्नोत्तरी

प्रश्न :—ब्रह्मानुभूति तो अनुभव का विषय है जिसके लिए भक्ति, योग, उपासनादि की आवश्यकता है। फिर शास्त्र-ज्ञान सम्पादित करने में क्या प्रयोजन निहित है ?

उत्तर :—यह ठीक है कि कई साधक केवल साधन को ही महत्व देते हैं और शास्त्रावलोकन का विरोध करते हैं, किन्तु शास्त्र-ज्ञान एवं अध्ययन की वास्तविक उपयोगिता तो परम तत्व का अनुभव कराने के लिए साधन में सहायक रूप है। इसके लिए आवश्यक है कि पठन-पाठन तथा विचार-मनन आदि को अनुभूति, साक्षात्कार कराने में साधन का अङ्ग मानकर ही किया जावे,—शाब्दिक शास्त्रीय ज्ञान को ही ध्येय न बना लिया जावे। किन्तु इसके विपरीत प्राय: देखा जाता है कि विद्वान् शास्त्रवेत्ता व्याकरण की बारीकियों, शब्दों की गहराइयों, वाक्यों की रचनाओं तथा विषय की बहिरङ्ग समालोचनाओं में ही अटके रह जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी,—शास्त्र-ज्ञान तक अटके तथा साधन की ओर से सर्वथा उदासीन रह जाने के कारण, आध्यात्मिकता से शून्य तथा सदाचार से विमुख होते हैं। सामान्य लोगों की भाँति ही उनके मन में भी विषय-भोगों की वासनाओं की प्रबलता बनी रहती है तथा वे भी भय, चिन्ता, शोक, क्रोधादि से ग्रस्त होते रहते हैं। विषयासक्ति तथा इन्द्रियाधीन वृत्ति होने के कारण ऐसे

लोगों का शास्त्र-ज्ञान के वास्तविक लाभ से वंचित रह जाना स्वाभाविक ही है।

ईश्वर को जानने के लिए चित्त की सत्त्वगुणी अवस्था की आवश्यकता है। जब तक चित्त तमोगुण की मलीनता से भरा है तथा रजोगुण के द्वारा प्रति क्षण आन्दोलित होता रहता है, काम-क्रोध-मोह-राग-द्वेषादि से आवृत होता रहता है, तब तक उस पर आत्मप्रकाश की झलक कैसे पड़ सकती है? इसी ओर अग्रसर होने के लिए, बुद्धि के परिमार्जन के लिए, शंकाओं की निवृत्ति के लिए, अध्यात्म-रुचि में प्रेरणा के लिए तथा जिज्ञासा में वृद्धि के लिए शास्त्रावलोकन अपरोक्षानुभव का सहायक साधन होता है, अन्यथा तो विद्या का अहंकार पैदा करके तमोमय आवरण को और अधिक घनीभूत कर देता है।

प्रश्न :—भक्ति, योगादि साधनों के साथ यदि श्रद्धा का योग न हो तो इससे साधन में क्या अन्तर पड़ता है?

उत्तर :— श्रद्धा को एक ओर हटाकर तो सभी साधनों की नींव ही हिल जाती है। सच पूछा जाए तो श्रद्धा के अभाव में किसी भी प्रकार के भगवदाभिमुखी साधन का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि श्रद्धा ही नहीं तो साधन ही क्यों किया जाएगा?

पातञ्जल योगदर्शन पर टीका लिखते हुए श्री व्यास जी ने मत व्यक्त किया है कि श्रद्धा माता की तरह साधक की रक्षा करती है। श्रद्धा के आधार पर ही भक्ति होती है। विश्वास भी श्रद्धा का ही स्थूल रूप है। तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली में श्रद्धा को ज्ञानमय कोष का सिर, ऋत् को दक्षिण पक्ष, सत् को उत्तर पक्ष तथा योग को उसका धड़ कहा है जिसे महत् अर्थात् विभु ज्ञान पर प्रतिष्ठित कहा है।

ऋत्, सत् और योग क्या है ? श्रवण और अनुमान से अन्य विषयी ज्ञान ऋत् है जो समाधि से उत्पन्न बुद्धि द्वारा ही ग्राह्य है। जो सत्य किसी अन्य विषय की अपेक्षा से सत्य प्रतीत हो, वह सत् है। चित्त की एकाग्रता का नाम योग है। चित्त की एकाग्रता से ऋत् और सत् सम्बन्धित हैं, किन्तु सबका सिर श्रद्धा होने के कारण वही मनुष्य को किसी भी श्रद्धेय में प्रेरित करती है। बिना श्रद्धा के किसी भी काम में प्रवृत्ति ही नहीं होती और यदि कोई काम किया भी जाए तो वह दिखावा मात्र रहता है।

परमात्मा विषयक श्रद्धा ही तीव्र होने पर भक्ति का रूप धारण कर लेती है और भक्ति की तीव्रता होने पर चित्त सहज ही ध्यानस्थ अवस्था धारण कर लेता है।

इसीलिए ब्रह्मा जी ने आश्वलायन ऋषि को उपदेश किया कि श्रद्धा, भक्ति, ध्यान तीनों के योग से उस परब्रह्म को जानो। श्रद्धा को भक्ति और ध्यान से भी पहले रखा गया है।

क्या श्रद्धा अन्धी होती है ? यह पहले ही कहा जा चुका है कि ऋत् और सत् युक्त श्रद्धा ही फलदायिनी होती है। बिना सत् और असत् के विवेक के जो श्रद्धा होती है, उसे ही अन्ध श्रद्धा कहा जा सकता है क्योंकि ऋत् और सत् बुद्धि के दो नेत्र हैं।

प्रश्न :—विभिन्न प्रकार के साधनावलम्बियों के आपसी वाद-विवाद से मनुष्य असमञ्जस में पड़ जाता है कि क्या करे ?

उत्तर :—यह तो प्रायः देखा ही जाता है कि भक्ति मार्ग वाले वेदान्त की, वेदान्ती योग मार्ग की, योगी ज्ञान अथवा भक्ति

की तथा कई लोग सबको अमान्य करके कर्म का प्रतिपादन करते

हुए अन्य साधनों की निन्दा करते हैं। ऐसा तो बहुधा सुना ही जाता है। भक्ति, ज्ञानादि भिन्न मार्ग हैं। योगमार्ग के अन्तर्गत भी हठ, मन्त्र, लय और राजयोग की भिन्नता बताई जाती है। कई सम्प्रदाय तो अपनी एकपक्षीय धारणा को लेकर दूसरों की कटु आलोचना तथा निन्दा करते हैं।

परन्तु यह सर्वमान्य है कि सभी सम्प्रदाय के साधकों को किसी-न-किसी रूप में ध्यान का उपदेश किया जाता है। कहीं समूर्त ध्यान तो कहीं अमूर्त ध्यान। कहीं नाद-श्रवण तो कहीं नासाग्र पर दृष्टि अथवा त्राटक आदि। जप, कीर्तनादि में भी मन को अन्य विषयों से हटाकर, भगवदाभिमुख करके भगवच्चरणों पर केन्द्रित करना आवश्यक है। वेदान्त के ज्ञानमार्ग में भी शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान तथा श्रवण, मनन निदिध्यासन द्वारा ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने का मार्ग योग मार्ग ही तो है। दोनों में पहला भक्त शरणागति द्वारा अपने अहम् को भगवान् में विलीन करना चाहता है। दूसरा ज्ञानी आत्म-निवेदन द्वारा अपने अहम् को आत्मा में विलीन करके ब्रह्मभाव लाना चाहता है। धारणा, ध्यान, समाधि साधन के अन्तरङ्ग अङ्ग हैं। साधक चाहे किसी भी मार्ग का अवलम्बी हो, उसे इनका आसरा लेना अनिवार्य है। विभिन्न मार्ग एक-दूसरे से भिन्न दीखते हुए भी, सबका अन्तिम लक्ष्य चित्त की एकाग्रता ही है। पूज्यपाद शंकर भगवद्पाद ने अपने ग्रन्थ योग तारावली में लिखा है कि सदाशिव द्वारा बताए गए चित्त को लय करने के सवा लाख साधन संसार में विद्यमान हैं। संकुचित धर्मोन्मादी कहाँ तक और किस-किस मार्ग की निन्दा करते फिरेंगे ?

कर्मयोगी का विकास, कर्मयोग भी उसे उसी दिशा में ले जाता है। कर्तव्य-परायण मनुष्य बिना अपने कर्म से विचलित हुए कर्तव्य कर्म में लगा रहता है, जगत् में कार्यरत् रहते हुए भी मन की अडोल और सम-अवस्था बनाए रखने का साधन करता है। गीता में भगवान् ने कर्मयोग को बुद्धियोग कहा है, क्योंकि साधक इससे क्रमशः स्थितप्रज्ञ हो जाता है। कर्म की आवश्यकता तभी तक है जब तक आत्मस्थिति नहीं आ जाती।

किन्तु मार्गों का यह विवाद कि कौन-सा साधन अच्छा, कौन-सा साधन करना चाहिए आदि साधक के सम्मुख तभी तक है जब तक उसका साधन बाह्य ही है अर्थात् जब तक किसी साधना, उपासना अथवा प्रक्रिया विशेष के दीर्घकालीन अनुष्ठान के पश्चात् भगवद् कृपा होने पर स्वयमेव अथवा किसी शक्तिसम्पन्न गुरु के अनुग्रह के फलस्वरूप उसकी अन्तर चेतना जागृत होकर स्वतः सिद्धसाधन आरम्भ नहीं हो जाता। तब साधक का स्वयं का प्रयत्न समाप्त हो जाता है। भक्ति, योग, ज्ञान, हठ, मन्त्र, लय, नादश्रवण, दृश्य-दर्शनादि जब, जिस, जैसी और जितनी क्रिया की उसे आवश्यकता होती है, होती है। अन्तरचेतना क्रियाशक्ति ज्ञानवती होने के कारण हमारे अन्तःकरण में छिपे संस्कारों और हमारी आध्यात्मिक आवश्यकताएँ सब जानती है, अतः मार्ग-निर्णय का उत्तरदायित्व साधक के ऊपर से हटकर क्रिया शक्ति पर चला जाता है।



श्री लोकनाथतीर्थ जीवनचरित्

—श्री अच्युत सिद्धनाथ पोटभरे—

[गतांक से आगे]

बालक योगेश अति सुन्दर था, आँखें मोहक एवं सरल थीं। भौरों की तरह बालों की विशाल लटें भाल पर नाचती थीं। श्यामल शक्ल और गेंद जैसे टपके कपोल थे। सुहास्य वदन और सब के मन को मोहित करने वाला यह बालक भला कभी ज़मीन पर क्यों रहता ? सदैव कोई न कोई उसे गोद में ही उठाए रखता था।

माता-पिता बालक योगेश को बारंबार देखते और फूले न समाते थे, उसे चूमते-चूमते अतृप्त रह जाते थे, किन्तु बालक योगेश यह कदापि सहन न करता और रोने चिल्लाने लगता था। सब लोग उसें बहलाने की कोशिश करतें पर वह अपनी रागदारी स्वर में सप्तक तक बढ़ाता था। हाथ-पैर पटकता और मन्दिर की ओर ले चलने का उंगली से संकेत करता था। माता जब अपने बच्चे के मनोभाव जानकर मन्दिर की ओर ले चलती तो मन्दिर के गर्भागार में प्रवेश करते ही वह शान्त हो जाता था। घण्टों वहां चुपचाप बैठकर काली माता के दर्शन करना, खेलना, रेंगना, बैठना और पूजादि देखते रहना वह अधिक पसन्द करता था।

थोड़ा बड़ा होने पर योगेश कुशाग्र बुद्धि बालक था। उसके पिता अपने दिनक्रम में से समय मिलने पर कभी-कभी कुछ सरल श्लोक योगेश को सुनाया करते थे। उन्हीं श्लोकों को योगेश बिना रटे, बिना दोहराये, निर्दोष कह सुनाया करता था। मन्दिर में दुर्गासप्तशति के पाठों की आवृत्ति कोई न कोई करता ही रहता था, उन में से कितने ही श्लोक योगेश ने आते-जाते कण्ठस्थ कर लिए थे। मन्त्र-पद्धति तथा पूजा-मन्त्र भी उसने अनायास ही सीख लिए थे। इन सब बातों में उसकी स्मरण तथा धारण शक्ति असाधारण-सी प्रतीत होती थी। कोई भी बात एक बार याद कर लेने पर मानो जीवन भर के लिए याद रह जाती थी।

योगेश बचपन से ही एकान्तप्रिय था, किसी से मित्रता करना उसे उपाधिवत् लगता था, न ही किसी से घृणा थी और न ही किसी के प्रति कोई तिरस्कार। अभिमान तो तनिक भी न था। वह सदैव अपने में ही मस्त रहता, अपनी ही धुन में रहता था। वह स्वयं घण्टों बैठा किसी-न-किसी मूर्ति की पूजा करता रहता अथवा अपने पिता जी को काली माता की शान्त-चित्त पूजा करते देखा करता या फिर कभी मन्दिर के पिछवाड़े किसी सूने कमरे में आँखें मूंदकर बैठा रहता था। भोजन के समय भी जब उसकी माता जोर-जोर से चिल्लाती थी तभी वह उस कमरे से बाहर निकलता था।

इस एकान्तप्रियता में कभी-कभी उसकी मिलनसार वृत्ति भी उदय हो उठती थी। हँसी-मजाक उड़ाने में तब वह पास-पड़ोस के बच्चों का पूरा लाभ उठाया करता था। कई बार उसकी माता के पास उसकी शिकायत भी आती, किन्तु वह अपनी विनोद-वृत्ति से वातावरण में आनन्द-रस भर देता था।

चित्तवृत्ति बचपन से ही विरक्त भी थी, संग्रह करने का बिल्कुल शौक नहीं था। अन्याय कदापि सहन नहीं होता था और न्याय-अन्याय का निर्णय बड़ा शीघ्र होता था। अन्याय होने पर लड़ने के लिए तैयार रहता था। न्याय-अन्याय की कसौटी धार्मिक शास्त्र, नीति शास्त्र, उसका निर्मल मन था। अपने शास्त्रगत संस्कार उसे अपने पिता के पवित्र जीवन से तथा ढाकेश्वरी माता के जाग्रत स्थान से प्राप्त हो रहे थे।

गौशाला में जाकर बछड़ों से खेलना, गौ की गर्दन को खुजलाना, घास खिलाना, पानी पिलाना, पीठ पर प्रेमभरी थपकियाँ देते खड़े रहना, बछड़ों को लेकर उनके साथ खुले मैदान में दौड़-धूप करना उसे बड़ा सुहाता था। पिता जी जब दोहते थे तब पहले-पीछे बछड़ों को छोड़ना-बाँधना आदि सब काम बड़े आनन्द में करता था। गोबर आदि की साफ-सफाई करना वास्तव में उसे बहुत पसन्द था।

चक्रवर्ती पुजारी के घर में पिछले बीस वर्षों से किसी लड़के का खेलना, कूदना, इठलाना नहीं हो पाया था, अतः काली माता का यह प्रसाद सबके लिए प्रसन्नताकारक था। इसी बीच योगेश को एक छोटे भाई और बहन की प्राप्ति भी हो गई थी जिससे अब परिवार में हमेशा कोलाहल मचा रहता था।

प्राथमिक पाठशाला में दाखिल होने से पहले योगेश को पिता जी ने संस्कृत की प्राथमिक तैयारी तथा धार्मिक शिक्षा का श्रीगणेश करा दिया था। व्रतबंध के दिन एक-दो वर्ष में आने वाले थे, अतः पढ़ाई की उपेक्षा अब नहीं हो सकती थी। योगेश भी सारी पढ़ाई को तत्परतापूर्वक ग्रहण कर रहा था—

कुल सपूत जान्यौ परै देखि सुलच्छन गात।
होनहार बिरवान के होत चीकने पात॥

भविष्य में महापुरुष होने के लक्षण आरम्भ से ही उसके सद्गुणों से प्रकट होने लगे थे।

ढाकेश्वरी के मन्दिर में प्रति दिन अनेकों दर्शनार्थी आया करते थे और विभिन्न प्रकार से भक्तिभाव व्यक्त किया करते थे। प्रवचन, भजन-कीर्तनादि कार्यक्रम चला ही करता था। इन सब कार्यक्रमों में योगेश भजन में बहुत रस लिया करता था। आवाज़ भी उसकी बहुत मधुर थी। कभी-कभी तो उसका भजन सुनकर सुनने वाले भी अधीर हो उठा करते थे। उसकी भावमयी अवस्था में उसके कण्ठ से फूटने वाली एक-एक पंक्ति जब वह सिसकियां भर-भर कर गाया करता था तो वहां की अचेतन स्थावर वस्तुएं भी चेतनामयी-सी भासित होने लगती थीं। गऊएं कान देकर सुनने लगती थीं, बछड़े, प्यारे योगेश के पास आकर खड़े हो जाते थे, भाई-बहन उस से सटकर बैठ जाते थे, आने-जाने वाले यात्री वहीं ठहर कर अपने को भूल जाते थे। माता पिता की तो हालत ही क्या कहें ? वे जहां होते वहां ही रुक कर आंसू बहाते-बहाते योगेश का सारा भजन प्रेम से पी लेते थे। घर में जब कोई महमान आते थे तो माता-पिता योगेश को भजन करने को कहा करते थे, किन्तु तब वह केवल आज्ञा-पालन हेतु ही करता था, न उसमें वह ढंग होता और न वह रंग ही भरता। तब उस में केवल उसके निसर्गदत्त मधुर स्वर का परिचय ही प्राप्त हो पाता था।

अब योगेश को विद्या देवी के हाथों सौंप दिया गया। जो बालक अब तक माता पर निर्भर रहा, अब विद्या देवी पर निर्भर हो गया। भगवती भी उस पर कृपा करती जा रही थी। अनायास ही उसकी पढ़ाई में विशेषत्व आने लगा। जो बातें दूसरे विद्यार्थी

घण्टों रट कर याद कर पाते थे, उन्हें योगेश केवल सुनकर ही याद रख लेता था। घर जाकर यदि पुस्तकें खोलता भी तो केवल साधु-सन्तों की कथाओं की ही, और यदि वही में कुछ लिखता भी तो पाठशाला की बातें नहीं, अपितु नए-नए भजन और नए-नए भक्ति-गीत ही लिखता। योगेश का हस्ताक्षर भी उतना ही मोहक था जितना उस का चेहरा,—एक-एक अक्षर मोती जैसा, एक-एक पंक्ति मौक्तिक माला जैसी मोहक, सुडौल, सुन्दर थी। इतना होकर भी उनका चित्त पाठशाला, वहां की पढ़ाई और उस से प्राप्त प्रतिष्ठा में तनिक भी भटका नहीं, रुका नहीं तथा फंसा नहीं था। हृदय की सुप्त-गुप्त धारा कहीं और ही प्रवाहित थी।

आठ वर्ष की आयु में योगेश का व्रतबंध उसी मन्दिर में किया गया। अब से वह पूजा का अधिकारी बन गया। पिता जी के साथ पूजादि की सामग्री तैयार करके वह धीरे-धीरे पूजा में भी हाथ बँटाने लगा। सन्ध्यावन्दन विधिवत् करने में योगेश अत्यन्त जागृत था और यथाशास्त्र समंत्रक पूजा को उसने पूरी तरह समझ लिया था। शास्त्राज्ञा होने के कारण उसे कर्मतन्त्र में शास्त्र-निष्ठा अवश्य थी, परन्तु उसकी हृदय-वीणा इससे कई गुणा अधिक बढ़ कर प्रेम-भक्ति से झंकृत होती थी। इसी प्रेम-भक्ति के आवेश में कई बार वह बाह्यजगत् को भूल कर अन्तर्जगत् में रमण करने लगता था।

सायं-आरती में अब योगेश के स्वर सभी के हृदयाकाश को कंपित करने लगे। 'काली माता का यह स्थान जागृत है' इसकी अनुभूति इन्हीं स्वरों से, योगेश की दृष्टि से और हलचल से सभी को प्रतीत होने लगी। 'इस लड़के की गृहस्थ जीवन में रमने की सम्भावना नहीं दीखती'—ऐसा सबको भासने लगा।

भविष्य में महापुरुष होने के लक्षण आरम्भ से ही उसके सद्गुणों से प्रकट होने लगे थे।

ढाकेश्वरी के मन्दिर में प्रति दिन अनेकों दर्शनार्थी आया करते थे और विभिन्न प्रकार से भक्तिभाव व्यक्त किया करते थे। प्रवचन, भजन-कीर्तनादि कार्यक्रम चला ही करता था। इन सब कार्यक्रमों में योगेश भजन में बहुत रस लिया करता था। आवाज़ भी उसकी बहुत मधुर थी। कभी-कभी तो उसका भजन सुनकर सुनने वाले भी अधीर हो उठा करते थे। उसकी भावमयी अवस्था में उसके कण्ठ से फूटने वाली एक-एक पंक्ति जब वह सिसकियां भर-भर कर गाया करता था तो वहां की अचेतन स्थावर वस्तुएं भी चेतनामयी-सी भासित होने लगती थीं। गऊएं कान देकर सुनने लगती थीं, बछड़े, प्यारे योगेश के पास आकर खड़े हो जाते थे, भाई-बहन उस से सटकर बैठ जाते थे, आने-जाने वाले यात्री वहीं ठहर कर अपने को भूल जाते थे। माता पिता की तो हालत ही क्या कहें ? वे जहां होते वहां ही रुक कर आंसू बहाते-बहाते योगेश का सारा भजन प्रेम से पी लेते थे। घर में जब कोई महमान आते थे तो माता-पिता योगेश को भजन करने को कहा करते थे, किन्तु तब वह केवल आज्ञा-पालन हेतु ही करता था, न उसमें वह ढंग होता और न वह रंग ही भरता। तब उस में केवल उसके निसर्गदत्त मधुर स्वर का परिचय ही प्राप्त हो पाता था।

अब योगेश को विद्या देवी के हाथों सौंप दिया गया। जो बालक अब तक माता पर निर्भर रहा, अब विद्या देवी पर निर्भर हो गया। भगवती भी उस पर कृपा करती जा रही थी। अनायास ही उसकी पढ़ाई में विशेषत्व आने लगा। जो बातें दूसरे विद्यार्थी

घण्टों रट कर याद कर पाते थे, उन्हें योगेश केवल सुनकर ही याद रख लेता था। घर जाकर यदि पुस्तकें खोलता भी तो केवल साधु-सन्तों की कथाओं की ही, और यदि वही में कुछ लिखता भी तो पाठशाला की बातें नहीं, अपितु नए-नए भजन और नए-नए भक्ति-गीत ही लिखता। योगेश का हस्ताक्षर भी उतना ही मोहक था जितना उस का चेहरा,—एक-एक अक्षर मोती जैसा, एक-एक पंक्ति मौक्तिक माला जैसी मोहक, सुडौल, सुन्दर थी। इतना होकर भी उनका चित्त पाठशाला, वहां की पढ़ाई और उस से प्राप्त प्रतिष्ठा में तनिक भी भटका नहीं, रुका नहीं तथा फंसा नहीं था। हृदय की सुप्त-गुप्त धारा कहीं और ही प्रवाहित थी।

आठ वर्ष की आयु में योगेश का व्रतबंध उसी मन्दिर में किया गया। अब से वह पूजा का अधिकारी बन गया। पिता जी के साथ पूजादि की सामग्री तैयार करके वह धीरे-धीरे पूजा में भी हाथ बँटाने लगा। सन्ध्यावन्दन विधिवत् करने में योगेश अत्यन्त जागृत था और यथाशास्त्र समंत्रक पूजा को उसने पूरी तरह समझ लिया था। शास्त्राज्ञा होने के कारण उसे कर्मतन्त्र में शास्त्र-निष्ठा अवश्य थी, परन्तु उसकी हृदय-वीणा इससे कई गुणा अधिक बढ़ कर प्रेम-भक्ति से झंकृत होती थी। इसी प्रेम-भक्ति के आवेश में कई बार वह बाह्यजगत् को भूल कर अन्तर्जगत् में रमण करने लगता था।

सायं-आरती में अब योगेश के स्वर सभी के हृदयाकाश को कंपित करने लगे। 'काली माता का यह स्थान जागृत है' इसकी अनुभूति इन्हीं स्वरों से, योगेश की दृष्टि से और हलचल से सभी को प्रतीत होने लगी। 'इस लड़के की गृहस्थ जीवन में रमने की सम्भावना नहीं दीखती'—ऐसा सबको भासने लगा।

पशु-बली अर्पण करने की पद्धति उन दिनों भारत में न्यूनाधिक रूप में प्रायः सर्वत्र थी, किन्तु बंगाल में इस पद्धति का चलन विशेष रूप से था। ढाकेश्वरी माता को बली चढ़ाने वाले भक्त कम नहीं थे। यह पूजा अपनी-अपनी कामनापूर्ति के लिए की जाती थी। पूजा के अनंतर पशु का नैवेद्य अर्पण किया जाता था। पुजारी की हैसियत से योगेश के पिता यह कार्य करते थे। उस समय पशु की अवस्था देख-देख कर योगेश की आँखों में निर्भयता आ गई हुई थी। अनेकों बार ऐसे बलिपशुओं की करुणा भरी आवाजें-चीखें सुन कर उसके कान अभ्यस्त हो कर ठण्डे हो गए थे। खून के आवेग से बहने वाली धारायें पहली बार देख कर आँखें मूंद लेने वाला योगेश अब खुली आँखों से टकटकी लगाये खून की बहती धारायें निरखा करता था।

उसकी आयु बढ़ने के साथ पशु काटने का काम उसके हाथ में आ गया। इसका क्रम इस प्रकार था कि प्रथम संकल्पपूर्वक पूजा करके नैवेद्य समर्पण करने के लिए बकरे को बलिवेदी के चबूतरे पर खड़ा किया जाता था। फिर उस बकरे की तथा उस शस्त्र की जिसके साथ उस बकरे को काटना होता था, पूजा की जाती थी। फिर उस बकरे को पकड़ कर उसकी गर्दन पर वह तीक्ष्ण शस्त्र चलाया जाता था। पशु का सिर नैवेद्य के रूप में अर्पण करके उसका खून देवी के चरणों पर सिंचन किया जाता था और उस पशु का शरीर प्रसाद के रूप में सम्बन्धित भक्त को दे दिया जाता था। किसी समारोह, उत्सव आदि के दिनों में यह कांट-छांट बहुत अधिक होती थी। यह सब बार-बार करते रहने पर योगेश यह खून देखने का अभ्यस्त हो गया था और पशुओं की कांट-छांट का यह काम प्राप्त कर्म समझकर करता था—'यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि।' अस्तु!

दूसरी ओर पाठशाला का कार्य भी चल रहा था। उसमें किसी भी प्रकार की कुछ कठिनाई नहीं थी, किन्तु पाठशाला में पढ़ाए जाने वाले विषय उसे बड़े सामान्य से लग रहे थे, जिस कारण अधिक रुचि नहीं हो रही थी। उसकी धारण शक्ति एवं स्मृति-शक्ति प्रबल थी। वक्तृत्व कला में योगेश जैसा वक्ता पाठशाला में दूसरा कोई न था। किन्तु यह बात अलग है कि उसने पाठशाला में आयोजित किसी भी वक्तृत्व-स्पर्धा में भाग नहीं लिया था, पर एक बार की एक घटना से उसको इस विशेषता का परिचय सब लोगों को प्राप्त हो गया।

योगेश चौथी कक्षा में (अब की आठवीं) पढ़ रहा था। घर से करके लाने के लिए स्कूल से कभी लेखन अथवा कुछ याद करके आने का काम दिया ही जाता था। योगेश इस प्रकार प्रदत्त गृहपाठों को पाठशाला में ही प्राय: समाप्त कर लिया करता था। उसमें भी उसे केवल लेखन-कार्य ही करना होता था। पठन-पाठन अथवा याद करने में तो कुछ कष्ट था ही नहीं। एक बार इतिहास के विषय के दो पाठ घर से याद करके लाने को कहा गया था। यह दोनों पाठ कक्षा में तो पढ़ाए ही गए थे, बस योगेश के लिए इतना ही पर्याप्त था।

दूसरे दिन वर्ग में शिक्षक ने योगेश से ही पूछ लिया,— "बताओ, पाठ में किन-किन बातों की चर्चा आई है ?" योगेश चापलूस लड़का नहीं था। अन्य लड़के तो अपनी बला टल गई देख इसी में आनन्दित थे, पर योगेश के हृदय में एक सनसनाहट पैदा हुई। इस स्थान पर तुलना करना उचित नहीं, पर स्वामी विवेकानन्द अखिल विश्व धर्म परिषद् में जिस उल्लास और स्फूर्ति से भाषण दे चुके थे, उस समय वही उल्लास और स्फूर्ति योगेश में आ गई।

योगेश ने प्रश्न का उत्तर देना प्रारम्भ किया। एक-एक वाक्य अपना प्रभाव जमाता गया, विद्यार्थी स्तब्धवत् हो गए। हाथों के इशारे, गर्दन का शान से यहाँ-वहाँ झुकाना, ऐंठ कर खड़े रहना, शब्दोच्चारण में भावानुकूल उतार-चढ़ाव, आँखों की मार्मिक हलचल आदि सब बातों से वर्ग का वातावरण निस्तब्ध, चैतन्यमय और उत्साह से लबालब भर गया। शिक्षक भी प्रभावित हो गए और अपने वर्ग में ऐसे योग्य लड़के को देखकर अपने को धन्य माना।

शिक्षक योगेश की वाक्‌गंगा में ऐसे आत्मविस्मृत हुए कि उसे रुकवाने को भी भूल गए। योगेश का वह अविस्मरणीय भाषण एक घंटे तक चलता रहा और आखिर तक वही जोश, वही वेग, वही प्रभुता बनी रही। जब अपना उत्तर समाप्त करके योगेश नीचे बैठा तो सहसा तालियों की गड़गड़ाहट की झड़ी लग गई। शिक्षक उसके पास गए और 'शाबाश! शाबाश!!' कहकर पीठ पर हार्दिक थपकियाँ देकर वर्ग के बाहर चले गए।

उसी दिन से पाठशाला में योगेश की प्रसिद्धि हो गई। अध्यापक उसका आदर करने लगे, किन्तु योगेश को उसकी किञ्चित्मात्र भी अपेक्षा और परवाह न थी।

यह रहा योगेश का बालपन! इस काल के परिवर्तन के साथ-साथ योगेश के जीवन में परिवर्तन ही परिवर्तन होने लगे।

परिवर्तन ही परिवर्तन—

योगेश की आयु अब बारह वर्ष हो गई थी। पिता जी के नियन्त्रण-निरीक्षण में मन्दिर की व्यवस्था तथा व्यवहार सम्भालने में पिता का हाथ बटाने लगा था। पिता जी जब कहीं बाहर गांव जाते, तब योगेश यथासूत्र सब कुछ करता था।

मन्दिर के साथ कुछ जमीन भी लगी थी जहां चावल आदि फसलें होती थीं। उस की देख-भाल भी योगेश ठीक तरह से करने लगा था। उस का छोटा भाई भी अपने पिता जी तथा अपने वड़े भाई के संस्कारों में पला होने के कारण अपनी उम्र के अनुसार यथाशक्य सब कुछ करता था। छोटी बहन माता जी के कामों में हाथ बंटाती थी। इस प्रकार सारा सोने का संसार था। ये बच्चे भी जैसे सोने के सजीव खिलौने थे।

इतने में पिता जी बीमार पड़ गए। उन की आयु लगभग बत्तीस वर्ष की होगी। 'यह बीमारी उन्हें छीनकर ले जाने वाली है'—इसका किसी को भी सन्देह नहीं हुआ, पर योगेश के मन में अपनी परम्परा आने लगी। उसके दादा भी इसी आयु में चल बसे थे। दादा के पिता तथा दादा भी ३२–३३ की अवस्था में संसार से विदा हो गए थे, मानो अकाल मृत्यु की परम्परा घराने में चली आ रही थी। इस परम्परा का ध्यान आते ही योगेश शंकित हो उठा, किन्तु किसी से कुछ बोल न सका। पिता जी की सेवा तन-मन-धन लगाकर करता रहा, किन्तु भावी टल न सकी। और तो क्या, भावी को ब्रह्मा भी नहीं टाल सकते। योगेश का पितृछत्र टूट गया, बचपन में ही यह घोर विपत्ति आ पड़ी, मानो विपत्ति का पहाड़ ही टूट पड़ा। माता जी का तो कहना ही क्या? जीवित रहना भी मृत्यु-वत् लग रहा था, किन्तु उपाय भी क्या था? योगेश सभी के दुःख को शान्त करने का प्रयत्न करता था। भोली माता प्रारब्ध को कोसती रही और—'प्रारब्ध अटल है, उसे भोगना ही पड़ता है'—यह कटु सत्य योगेश माता से कहता रहा।

उस समय सरकार-विरोधी बंग-भंग आन्दोलन से बंगाल बुरी तरह पीड़ित था जिस कारण प्रान्त की सारी राजनीतिक,

सामाजिक एवं व्यापारिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो रही थी। योगेश की तो पारिवारिक परिस्थिति भी बिगड़ चुकी थी। केवल ढाकेश्वरी के सहारे ही जीवन जीना सुसह्य हो सकता था, उस के आश्रय में कुछ कमी न थी। मन्दिर के कारण बाह्य संरक्षण एवं आन्तरिक सुविधा, दोनों थे, किन्तु योगेश के जीवन में तो परिवर्तन का समय आरम्भ हो चुका था। पिता जी के निधन के कुछ दिनों पश्चात् योगेश को पांचवीं कक्षा से पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। उन दिनों अंग्रेजी पांचवीं तक की पढ़ाई कुछ कम नहीं थी, नौकरी के लिए काफी थी। तंगी से बचने के लिए दो-तीन वर्ष पश्चात् एक विलायती ज्यूट फैक्टरी में नौकरी कर ली, किन्तु आगे चलकर जब गृहत्याग का निश्चय हुआ तो वहां से त्याग-पत्र देकर मुक्त हो गए।

योगेश के जीवन का यह पांच-छः वर्ष का समय परिवर्तनों से भरा हुआ है। पिता जी का निधन, पाठशाला छोड़ना, नौकरी के फन्दे में पड़ना और फिर उसे छोड़ना, घर-बार छोड़ना, माता-भाई-बहन को छोड़ना, इस प्रकार एक के पश्चात् एक को छोड़ते चले जाना आदि परिवर्तन होते चले गए। भले ही इस अवस्था में चित्त कितने ही बार आन्दोलित हुआ होगा। आन्तरिक खिचाव एक ओर था तो प्रारब्ध का बलवत् खिचाव दूसरी ओर। पर भगवती की परम कृपा थी कि उस की भक्ति में मग्न, तल्लीन योगेश अन्तःप्रेरणा से बलपूर्वक चल रहा था।

योगेश का जीवन बाह्यतः नित्यक्रम के अनुसार चल रहा था किन्तु आन्तरिक विचारचक्र उस बाह्यक्रम को छोड़ना चाहता था, दिन का अधिकांश समय अब भगवती उपासना में,—पूजा पाठ, आरती आदि में व्यतीत होता था। भजन में व्याकुल हो कर, विह्वल होकर अश्रुपात होने लगता था। 'हे मां! मुझे

मार्ग बताओ, मुझे पथ-प्रदर्शक से भेंट कराओ'—इस प्रकार को प्रार्थना वह किया करता था।

यह पहले लिखा जा चुका है कि योगेश बचपन से ही विरक्त था। उस के मन में किसी प्रकार की ईर्षा, राग-द्वेष नहीं था। विवाह-बद्ध होने की उसे कभी भी इच्छा नहीं हुई थी। दारेषणा उसे छुई तक नहीं थी। धन की लालसा का निर्माण ही नहीं हुआ था। बड़प्पन से कोसों दूर रहने के लिए वह सदैव सावधान रहा। इस वित्तेषणा, दारेषणा तथा लोकेषणा से दूर रह कर उस की विरक्त प्रखरतम वृत्ति आजीवन सचेत रही।

अब योगेश हमेशा अपनी धुन में रहते भगवती का दर्शन करना चाहता था। वह भगवद् प्राप्ति चाहता था, अपने अन्तस्थ को जानना चाहता था, दुष्प्राप्य, एकमेव सत् तत्त्व प्राप्त करना चाहता था और अपने आप को पहचानना चाहता था। उसे यही एकमेव धुन थी और यही एकमेव अनुसंधान था। परिणामतः सारी वृत्तियां अन्तर्मुखी बन गईं।

योगेश की माता उसकी वृत्ति उसके बचपन से ही जानती थी। 'वह घर-गृहस्थी के झंझटों में अटकने वाला नहीं है, शादी के फन्दे में फंसने वाला नहीं है। किसी-न-किसी दिन वह घर छोड़ कर चला जायगा'--यही निश्चित् धारणा घर वालों की बनी थी। माता जब इन विचारों में डूब जाती थी तो यूंही म्लानवदना बनकर बैठी रहती थी। हां, यदि योगेश के पिता जी होते, यह सब सहन करना अपेक्षाकृत कहीं सरल होता। 'योगेश सब से बड़ा पुत्र' विचार करते-करते बुद्धि कुण्ठित हो जाती थी, तब विचार-चक्र भी बन्द हो जाता था। तब वह शून्य दृष्टि से शून्य में देखती रहती। मां की यह अवस्था जब योगेश देखता

तो माता को बहुत समझाता। उन दोनों के प्रश्नोत्तर चलते

रहते थे, किन्तु योगेश भी अपनी टेक छोड़ता नहीं था।

अब यह परस्पर-द्वन्द चरम सीमा तक पहुंच गया था। इस बहस का अन्त नहीं, यह दोनों समझ गए थे। योगेश ने चर्चा बन्द कर दी, मानो मन के दृढ़ संकल्प ने मौन बना दिया। दिन-क्रम नित्य का ही था।

काली माता की उपासना का समय और वेग दिन-प्रति-दिन बढ़ता चला जा रहा था। अब उसने बाह्य जगत् से आंखें मूंद ली और अन्तर्जगत् को ही देखा करता। विवेक जागृत होने लगा, किन्तु अभी तक उसे किंचिन्मात्र भी साधुसङ्ग की उपलब्धि न हो पाई थी। इस अभाव को योगेश बुरी तरह अनुभव करने लगा। सत्सङ्गति के बिना, पथ-प्रदर्शक के बिना यह रास्ता काटा भी तो नहीं जाता, तय नहीं हो सकता।

इन्हीं विचारों में मग्न योगेश घण्टों-घण्टों ढाकेश्वरी माता के सामने खड़ा निहारता रहा करता था। वह रोते-रोते माता से कहता—'मां! मुझे पथ-प्रदर्शक दे, मुझे साधु-सङ्गति दे, तभी मैं तुम्हारे दर्शन का कृपा-पात्र बन सकूंगा।' भावुक मन स्तब्ध हुआ और उसे वहीं नींद आ गई।

योगेश को स्वप्न-दृष्टांत हुआ। 'तुम्हारा काम हो गया। घर छोड़ो, तभी समझ में आयेगा।'

दूसरे ही दिन, बिना किसी से झगड़े, बिना किसी को कुछ कहे वह गृहत्याग कर चल दिया। न उसके पास कुछ सामान था और न कोई पैसा ही। यह विशेष परिवंतन उस के जीवन में हुआ।

परन्तु अभी भी यह परिवंतन अधूरा था। अभी पथ-प्रदर्शक सद्गुरु की प्राप्ति होकर उर्वरित परिवर्तन की अपेक्षा थी।

सद्गुरु की प्राप्ति—

यह अनुमानतः सन् १९१२ का काल होगा। योगेश अब बीस वर्ष का युवक बन चुका था। भगवत्प्राप्ति के लिए वह घर-बार छोड़कर चल रहा था। यह युवक किसी के चंगुल में नहीं फंसा तथा स्वयं भी कहीं नहीं ठिठका, अपनी अन्तःप्रेरणा को प्रमाण मानकर चलता रहा।

सन् १९१२ में श्रीमदात्मानन्द ब्रह्मचारी जी से उस की भेंट हुई। उन के पास वह कैसे, किस माध्यम से पहुंचा, यह ज्ञात नहीं हो सका, किन्तु घर छोड़ने के पश्चात् वह अन्य किसी सत्पुरुष या साधु के सङ्ग में नहीं आया, पहले-पहल श्रीमदात्मानन्द प्रकाश जी से ही मिलना हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि उस वर्ष श्रीमदात्मानन्द प्रकाश जी अपने गांव चीतलकोट आए हुए थे।

श्रीमदात्मानन्द प्रकाश ब्रह्मचारी जी, जो बाद में संन्यास दीक्षोपरान्त श्री १००८ स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ महाराज विख्यात हुए, विनौटिया में स्थित श्री १००८ स्वामी नारायण-तीर्थ देव महाराज से मन्त्रसहित दीक्षा प्राप्त कर चीतलकोट आए हुए थे। आप की अवस्था पहले से ही उच्च स्तर की रही है। श्री स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज ने आप की इस अवस्था को देखकर,—'यह चाहे तो किसी पर अनुग्रह भी कर सकता है'—ऐसा आशीर्वाद भी दे दिया था। श्रीमदात्मानन्द प्रकाश अपनी साधना में सदैव जुटे हुए थे। ऐसे स्थान पर पहुंच जाना योगेश के लिए सौभाग्य-सूचक था। उसे देखकर श्रीमदात्मानन्द प्रकाश जी के हृदय में भी आनन्द की लहर उठ गई। उन्होंने सब पूछताछ करके उसे अपने पास ही ठहरा लिया।

श्रीमदात्मानन्द जी सोच रहे थे,—'मुझे सद्गुरु-प्राप्ति के लिए कितने कष्ट उठाने पड़े, किन्तु इस युवक को कैसी सुविधा से सब प्राप्त होने वाला है ?' योगेश भी अपने भावी पथ-प्रदर्शक को एक-एक कटाक्ष से निहारते हुए निश्चिन्त, आश्वस्त एवं शान्त होता जा रहा था। 'अब और कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है'—ऐसा निश्चय कर उसने अपनी भूमिका शिष्य की बना ली और मन ही मन श्रीमदात्मानन्द जी को गुरुरूप में स्वीकार किया। अब योगेश ने अपने गुरुदेव की अथक सेवा आरम्भ कर दी। दीक्षा-अनुग्रह कुछ नहीं, केवल—'योग्य अधिकारी सत्पुरुष मिले हैं, गुरु करना है तो इन्हें ही करना उचित है'—इतना निश्चय होने से ही योगेश ने सेवा-व्रत लिया था। यह व्रत 'परिप्रश्नेन' तथा 'सेवया' पालन हो रहा था।

श्रीमदात्मानन्द जी का सहवास दिन-प्रति-दिन बढ़ते जाने से योगेश उन के दिव्य, निर्मल, अध्यात्म गुण-सम्पन्न जीवन से प्रतिपल अधिकाधिक प्रभावित होता चला गया। श्रीमदात्मानन्द जी भी योगेश की विरक्ति तथा भगवद्-प्राप्ति की उत्कट जिज्ञासा देखकर संतुष्ट होते चले गए। परस्पर संबन्ध से एक-दूसरे के प्रति स्नेह तथा आदर की वृद्धि होने लगी। श्री गुरुदेव केवल दो वर्ष योगेश से ज्येष्ठ थे।

योगेश निष्ठापूर्वक सेवा-व्रत से श्री गुरुदेव के हृदय में अपने प्रति अनुकम्पा का भाव निर्माण कर रहा था। दीक्षा के सम्बन्ध में उसने कभी कुछ चर्चा नहीं छेड़ी। 'गुरुदेव मेरी अन्तर्जिज्ञासा सब समझते हैं'—ऐसा उसे विश्वास था। एक दिन श्रीमदात्मानन्द जी ने स्वयं ही कहा,—'यदि आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहने की तैयारी हो तो दीक्षा का विचार हो सकता

है। जिन्हें इस विषय में कुछ करना है, उन के लिए दीक्षा है। केवल मजा चखने वालों को दीक्षा देने से क्या लाभ ?'

योगेश ने लक्ष्यप्राप्ति के निमित्त अपनी मानसिक तैयारी स्पष्ट कर दी और एक सुदिन उन्हें ब्रह्मचर्य की दीक्षा दे दी गई। इस दिन से उन का नाम ब्रह्मचारी योगेशचन्द्र प्रकाश हुआ। इस के कुछ दिनों के पश्चात् शक्तिपात् दीक्षा भी हो गई और यह दोनों गुरु-शिष्य ज्ञान-साधन-मठ बिनौटिया में प० पू० श्री स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज के यहाँ गए। गुरु अपने गुरु के घर और शिष्य अपने परम गुरु के यहाँ आकर बड़े प्रसन्न थे।

श्रीमदात्मानन्द जी ने ब्रह्मचारी योगेशचन्द्र प्रकाश का अपने गुरुदेव से परिचय करा दिया और सारी बातें कह सुनाईं। श्री परम गुरु महाराज ने भी नूतन दीक्षित ब्रह्मचारी योगेशचन्द्र प्रकाश को अपनी अनुपम, दिव्य दृष्टि से कृतार्थ कर दिया, अपना परम मंगलमय आशीर्वाद सदा के लिए ब्रह्मचारी जी को दे दिया।

ज्ञान-साधन-मठ का साधनामय वातावरण देखकर ब्रह्मचारी योगेशचन्द्र अपने भाग्य को सराहते रहे। निरामय, शान्त, साधनानुकूल वातावरण, श्री गुरुदेव तथा श्री परम गुरुदेव का सान्निध्य एवं मार्ग-दर्शन ब्रह्मचारी योगेशचन्द्र के लिए अत्यन्त प्रसन्नताप्रद थे। वहां रहने की उसे इच्छा हुई और सौभाग्य-वशात् अनुमति भी मिल गई। बस, अब क्या था ? योगेश के भाग्य ने करवट बदल ली।

ज्ञान-साधन-मठ में साधना—

श्री परम गुरु १००८ श्री स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज

की धवल कीर्ति की मधुर सुगन्ध धीरे-धीरे फैलने लगी थी। उन के ज्ञान-साधन-मठ में साधकों की चहल-पहल भी काफी बढ़ गई थी। साधकों के अतिरिक्त अन्य भक्त सज्जन, अतिथि भी आने लगे। इन सारे आश्रमीय सज्जनों के खान-पान की व्यवस्था ब्रह्मचारी श्रीमदात्मानन्द प्रकाश जी के उत्तरदायित्व में थी। इस व्यवस्था में ब्रह्मचारी योगेशचन्द्र भी अपने गुरुदेव के साथ हो गए।

ऋषिकेश निवासी श्री स्वामी शिवोम्तीर्थ महाराज लिखित 'योग विभूति' नामक पुस्तक में इस आश्रम में श्रीमदात्मानन्द प्रकाश जी को क्या-क्या करना पड़ता था,—इसका विशद् वर्णन किया गया है। उस का कुछ भाग यहां उद्धृत करना उचित होगा।

'सात-आठ रुपये मासिक आय, आश्रम में अतिथियों को छोड़कर छः-सात स्थाई आश्रम-वासी, अतिथियों की सेवा, गुरुदेव की सेवा, साधन और अध्ययन के बीच ब्रह्मचारी आत्मानन्द प्रकाश की कार्यव्यस्तता, दक्षता और निष्ठा को देखकर देखने वालों के सामने ऋषिकालीन आश्रम और गुरु-सेवकों का चित्र सजीव हो उठता। आप अपने नित्य-नियम से निवृत्त होकर, झोली उठाकर भिक्षा के लिए चल देते। अपनी ओर से कुछ माँगना नहीं, जो मिला,—दाल, चावल, साग, सब्जी लाकर फिर आश्रम की सेवा में जुट जाते थे।

'कई बार ऐसा अवसर भी आ जाता कि आश्रम में भोजन के लिए कुछ भी नहीं होता। ऐसे दिन भिक्षा के लिए समय से कुछ पूर्व ही चल देना पड़ता था ताकि शीघ्र आकर भोजन का आयोजन किया जा सके। पूर्वी बंगाल में जहां-तहां स्वतः ही अरबी (कोचू तथा मानकोचू) बहुत होती है। इसलिए अरबी का

आश्रम को बहुत सहारा था। ब्रह्मचारी जी जंगल में जाकर
अरबी खोद लाते। ऐसा कुछ नियम-सा बन गया था कि पहले अतिथियों को भोजन करा दिया जाता था, फिर यदि कुछ बचा हुआ होता तो आश्रम-वासियों को दिया जाता था।

'श्री ब्रह्मचारी जी के सामने एक बड़ी कठिनाई और थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उस प्रदेश में वर्षा ऋतु में सर्वत्र जल भर जाता है। ऐसे समय भिक्षा के लिए घूमना एक कठिन समस्या थी। कभी कहीं आती-जाती नाव मिल गई तो ठीक, अन्यथा कहीं पानी में चल कर, कहीं तैर कर और कहीं कीचड़ में धँसते हुए सामान उठाते चलना कितना कष्टप्रद होता होगा? किन्तु ऐसी परिस्थितियों में भी लगे रहना ही तो निष्ठा है। कई बार वापिस लौटते तो शरीर पर जौंकें चिपटी हुई होतीं, पर ब्रह्मचारी जी सब सहन करते।

'भोजन-सामग्री के लिए तो भिक्षा चलती, किन्तु ईंधन-लकड़ी के लिए क्या किया जाए? उसके लिए आत्मानन्द प्रकाश जंगल में लकड़ी, कंडे चुनने जाया करते और गट्ठर सिर पर उठा कर ले आते। वर्षा-काल में यह समस्या अत्यन्त विकट होती थी। अतः उस समय के लिए पहले से ही कुछ लकड़ी जमा करके रखना अत्यंत आवश्यक होता था। एक बार आश्रम से थोड़ी दूरी पर एक बट-वृक्ष गिर पड़ा। उस प्रान्त में बड़ की लकड़ी केवल ब्राह्मणों के यहां ही जलाने के काम आती है। अतः उस पेड़ के स्वामी ने वह लकड़ी आश्रम को दे दी। गुरुदेव तथा आत्मानन्द प्रकाश दोनों ने मिलकर पहले तो कुल्हाड़ी से उसके टुकड़े किए और फिर रस्से से बांध कर उन टुकड़ों को पानी में खींचते हुए आश्रम पर लाकर जलाने योग्य छोटे-छोटे टुकड़े किए। एक दिन गुरुदेव के पाँव में गहरा घाव हो गया जिसको ठीक

होने में दो महीने लगे। इन दो महीनों में ब्रह्मचारी जी ने गुरु महाराज की अथक सेवा की।

'इस प्रकार अकथनीय कठिनाई में भागीरथ परिश्रम द्वारा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक आपने गुरुदेव तथा आश्रम की सेवा की। आश्रम के कार्य को आपने कभी गुरु-सेवा से भिन्न नहीं समझा और न गुरु-सेवा को साधन से ही भिन्न माना, अपितु गुरु-सेवा को भी साधन का एक ऐसा अङ्ग समझते थे जो किसी भी अन्य साधन-प्रणाली से अधिक शीघ्र शुद्धि का कारण एवं गुरु-कृपा प्राप्ति का हेतु है।'

ब्रह्मचारी योगेशचंद्र प्रकाश उपरोक्त सभी प्रकार की सेवाओं में अपने गुरुदेव श्रीमदात्मानन्द ब्रह्मचारी जी के साथ रहकर अपने गुरुदेव, परमगुरुदेव तथा आश्रम की सेवा में शामिल थे। अध्यात्म या वेदान्त केवल श्रवणीय नहीं, आचरणीय है। कृति से ही वह सिद्ध होता है। यहाँ आश्रम में यही हो रहा था।

ब्रह्मचारी योगेशचन्द्र प्रकाश सेवा-व्रत में अपने गुरुदेव के पक्के अनुयायी थे, विशेषत: आश्रम का चूल्हा फूंकने का काम आप ही का था। बर्तन माँजना, परोसना, सफाई करना आदि सब कामों में योगेशचन्द्र प्रकाश की विशेषता कुछ और ही थी। वास्तव में अपने गुरुदेव को इतने कष्ट उठाते देख कर योगेश-चन्द्र भी क्या कसर उठा रखते होंगे? जो-जो सेवा गुरुदेव करते, वह सारी सेवा योगेशचन्द्र भी करते थे।

यहां एक और बात का उल्लेख करना उपयुक्त होगा। परम गुरु श्री स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज कोमल तथा दयालु थे, परन्तु व्यवहार के क्षेत्र में बड़े कठोर थे। यह कठोरता आश्रम-वासियों को निर्दोष जीवन का पथ-प्रदर्शन करने के लिए थी।

किसी आश्रमवासी की तनिक-सी त्रुटि भी वे सहन नहीं करते

थे। कैसा भी साधक हो, गलती चाहे कितनी भी छोटी नगण्य हो, उसके परिमार्जन में श्री परम गुरुदेव की फटकार सुननी ही पड़ती। फटकार भी ऐसी थी की जीवन भर याद रहे। बाह्याडम्बर तो वह सहन करते ही नहीं थे।

मूँड मुंडाए तीन गुन, छूटत सिर की खाज।
हलुआ खाने को मिलै, लोग कहैं महाराज॥

दाढ़ी-मूंछ मूंडकर, घोटम-घोट करके, बाह्य दर्शन चकाचक कर देने से अपना क्या लाभ? आसक्ति तो किसी की भी छुटी नहीं। लड्डू आदि बढ़िया-बढ़िया पकवान खाने को मिले, लोग 'महाराज, महाराज' पुकारने लगे तो क्या अपनी इष्ट-प्राप्ति होगी।

हम तो जोगी मनहिं के, तन के हैं ते और।
मन का जोग लगावते, दशा भई कछु और॥

हम मन के जोगी हैं। बाह्यवेशधारी जपी, तपी, योगी कुछ और होते हैं। हम अन्तःकरणपूर्वक योग से चलने वाले हैं। हमारी दशा कुछ और अनन्य होती है।

आश्रम में चाहे जैसा काम हो, उसे निस्संकोच करने में शुद्ध वृत्ति का पोषण होता है, यह सेवकों के अनुभव से स्पष्ट होता है। श्रद्धा को जोर-जोर से हिलाने से वह पक्की होती है। गुरुदेव की फटकार से कोई बचा नहीं। किसी भी प्रकार का प्रमाद वे बरदाश्त नहीं करते थे। 'ये ही साधक आगे चल कर इस पथ के प्रचारक बनेंगे, इन का आचार शुद्ध होना चाहिए, इन का जीवन मंगलमय पवित्र होना चाहिए। सच्चा गुरुदेव जिसे हाथ

लगावे, उसे स्वर्ण ही नहीं, अपितु स्पर्शमणि बना दें'—यह थी श्री परम गुरुदेव की विचारधारा !

साधना—

ब्रह्मचारी योगेशचन्द्र प्रकाश को शक्तिपात् दीक्षा होने से अन्त:प्रवाहों में अति प्रबल वेगधारा उत्पन्न हुई थी। पहले-पहले कुछ शारीरिक क्रियाएँ हुईं। उनकी मानसिक स्थिति पहले से अन्तर्मुखी होने के कारण शरीर स्थिर होकर मनोव्यापार आदि की गति बढ़ गई। इस अवस्था में स्वत: प्रश्न निर्माण होते थे और अपने आप ही उत्तर भी प्राप्त होकर निःशङ्क भी बनते जाते थे।

प्रश्नों का सिलसिला व्यवहार से लेकर वेदांत तक चलता था। दोनों का भिन्नत्व भी स्पष्ट होता था और दोनों का एकत्व भी स्थापित होता था। व्यवहार की वृत्तियाँ शांत होते-होते वेदांत-अध्यात्म का निरामय आनन्द अनूठी लहरों से अनुभव होने लगता। तब कहीं निर्विचार स्थिति में मन का लय होने लगता था और वही परमानंद जब विचारों के हिंडोले में बैठकर झूमने लगता, डोलने लगता, तब तरंगित स्थिति में स्थिर अवस्था भी अस्थिर होने लगती, तरंगित होने लगती। दोनों अवस्थाओं में अजीब काव्य था,—अजीब आनन्द था,—अजीब बेहोशी थी।

यह सिद्ध-साधन प्राप्त होने से प्राणों की क्रिया चलती तो रहती थी, पर सूक्ष्म अवस्था से स्थूल क्रियाओं का काल समाप्त हो चुका था, रजोगुण सम्पन्न अवस्था मिट चुकी थी, अब थी सत्व अवस्था। पृष्ठवंश रजु लम्ब रूप स्थिर हुआ था। आसन-सिद्धि भी हो चुकी थी। प्राणों की गति ऊर्ध्व होकर आज्ञा चक्र में स्थिर हो गई थी। श्वासोच्छ्वास इतने मन्द हो गए थे कि

स्वयं के अतिरिक्त किसी की समझ में नहीं आता था कि श्वासोच्छ्वास की क्रिया मन्द रही है कि नहीं। काली माता तथा अन्य वर्णों, देवताओं के दर्शन भी होते थे। जिस प्रकार चुम्बक लोहे को खींच लेता है, उसी प्रकार सारी शक्ति किसी ऊर्ध्व शक्ति द्वारा ऊपर खींची जा रही थी। मस्तक की ओर से उसी प्रकार का खिचाव-तनाव ऊपर की ओर हो रहा था। यहीं आनन्दावस्था स्थूल और सूक्ष्म शरीर में मस्ती भर रही थी।

आश्रम का कोई भी काम क्यों न हो, वह इसी मदहोशी के आनन्द की धुन में ही होता रहता था। दिन-भर कुछ विचित्र नशा-सा छाया रहता था। सारी दुनिया भूलती जा रही थी, सारे विचार विलीन हो रहे थे, कल्पना का साम्राज्य शून्य बनता जा रहा था। अनूठा आनन्द घनीभूत हो रहा था। सारा व्यवहार मूक अवस्था में करने को जी चाहता था। काम हो तो भी और काम नहीं हो तो भी आँखें मूँद कर बैठना और आनन्द का रंग देखते रहना। बस, यही स्थिति अष्ट प्रहर बनी रहती थी।

इसी प्रकार साधन होते-होते चित्त का लय बढ़ गया। शांत चित्त विवेक के सहारे एक-एक विश्व-सूत्र को स्पष्ट करने लगा। सत्य क्या है? वस्तु या चैतन्य? आकार या तत्व? कला या सौन्दर्य? अनायास उत्तर मिलने लगा, 'वस्तु नहीं, चैतन्य सत्य है। कला नहीं, सौन्दर्य सत्य है।'

सत्य किसको कहते हैं? जो सतत् रहता है, वह सत्य। जो सतत् नहीं रहता, वह असत्य। चाहे जो अवस्था प्राप्त हो, वस्तु नष्ट हो सकती है, किन्तु चैतन्य नहीं। चैतन्य चरम-चक्षु की दृष्टि से नष्ट होगा, परन्तु आंतरिक विवेक-दृष्टि से नष्ट नहीं होगा। चैतन्य की चमक वस्तु के माध्यम द्वारा दृष्टिगोचर होती है, इसलिए भ्रम होता है। आकार नष्ट होता है, किन्तु तत्व

नहीं। कला नष्ट होती है, किन्तु सौन्दर्य नहीं। अपना शरीर क्या है? उसका चालक कौन है? इन्द्रियाँ तो सेवक हैं, मालिक नहीं—आदि अनेक प्रश्नोपप्रश्न निर्माण होकर निःशंक होते रहते थे।

चित्त की तरंगें विलीन होती-होती शांत हो गईं, प्रश्न निर्माण होने बन्द हो गए, फिर उत्तर का तो प्रश्न ही नहीं उठता। मन भी मौन हो गया। यह एकमेव सत्-चित्-आनंद-मय तत्व ही है, बाकी सब उस पर रचा गया बाजीगर का खेल ही है, अन्य कुछ नहीं।

ब्रह्मचारी योगेशचन्द्र प्रकाश ज्ञान-साधन-मठ में २-३ वर्ष रहे और इस प्रकार अपने साधन में प्रगति की।

गुरुदेव के साथ ढाका में आगमन—

सन् १९१४ का काल होगा। श्री गुरु महाराज श्रीमदात्मानन्द प्रकाश ब्रह्मचारी चीतलकोट में अपने पिता जी से मिलने गए थे। पिता जी स्वयं धर्म-शास्त्र के बड़े सुविज्ञ और धार्मिक मनो-वृत्ति के थे। वे यह जानते थे कि उनका पुत्र गृहस्थी की उलझन में उलझने वाला नहीं है, किन्तु पुत्र के बारे में वे निःशङ्क हो जाना चाहते थे। उसने जो आध्यात्मिक कार्य आरम्भ किया है, वह वास्तविक तो है? ऐसा न हो कि वह किसी ढोंगी साधु के फंदे में फँसकर धर्म के नाम पर किसी मुसीबत में न फँस जाए। यह सब वह देखना चाहते थे। अतः पुत्र के घर आते ही वे उसे अन्दर-बाहर से निहारते रहे।

ब्रह्मचारी आत्मानंद प्रकाश ने अपनी सारी रामकहानी कह सुनाई तथा शिष्यों की जानकारी भी उन्हें दी। पिता जी को यह सब ठीक लगा, पर—'यह जीवन विशेष उत्तरदायित्व समझ

कर निभाना होगा'—यह भी उन्होंने कहा। उन्होंने अपने पुत्र को साधु-जीवन बिताने की सहर्ष अनुमति दी। इसके बाद मैमनसिंह अपने बड़े भाई को मिलकर वह वापिस विनौटिया ज्ञान-साधन-मठ में चले गए।

श्री योगेशचन्द्र प्रकाश ब्रह्मचारी इन दिनों आश्रम में ही रहे। उनका दिन-भर का कार्यक्रम यथापूर्व चलता रहा। सेवा और साधन के अतिरिक्त तीसरी किसी बात में रुचि नहीं थी। श्रीमदात्मानन्द प्रकाश जी ने चीतलकोट से लौटकर आश्रम पर अपने पीछे की सब जानकारी इनसे ली तथा इन्होंने भी गुरु महाराज के गाँव चीतलकोट क्या-क्या हुआ,—सब पूछ लिया। चीतलकोट की सारी चर्चा सुन कर ब्रह्मचारी योगेशचंद्र ने मन में विचार किया कि मुझे भी अपने साधु-व्रत की जानकारी अपनी माता जी को देना शास्त्रसम्मत और व्यवहार-संगत होगा। सम्पूर्ण जीवन साधु के रूप में व्यतीत करने का अपना निश्चय कम-से-कम अपनी माता को तो कहना ही चाहिए। ऐसा कर देने में मन की कचोट समाप्त हो जायेगी, फिर यह कभी नहीं होगा कि मैंने किसी से आज्ञा लिये बिना यह मार्ग स्वीकार किया है। मैंने जिस प्रशस्त जीवन-पथ पर चलने का निश्चय किया है, उसे स्पष्ट कह देने में डर क्यों? मन में आन्दोलन क्यों? मुझे ढाका जाकर यह करना ही होगा।

एक दिन परम गुरुदेव महाराज ने चर्चा करते हुए श्रीमदात्मानन्द प्रकाश जी से कहा,—'योगेश की साधना की गति तीव्र है। यदि इसको एकान्त और स्वतंत्रता मिल जाए तो यह थोड़े ही समय में काफी आगे बढ़ सकता है।' श्री परम गुरु महाराज योगेशचन्द्र पर परम संतुष्ट थे।

कुछ समय के पश्चात् जब श्रीमदात्मानन्द प्रकाश जी आश्रम छोड़कर बंगाल के नाना स्थानों का भ्रमण कर रहे थे, तब श्री योगेशचन्द्र भी उनके साथ थे। दोनों मिलकर घूमते-घूमते ढाका आए। विशेष सामान पास में नहीं था, शिष्य समुदाय भी बड़ा नहीं था। ढाका में श्रीमदात्मानन्द प्रकाश स्वामी त्रिपुरलिङ्ग सरस्वती के विशाल मठ में ठहरे और योगेशचन्द्र अपने घर ढाकेश्वरी के मन्दिर में ठहरे। दोनों का नित्य-प्रति सम्बंध बना रहा। इस प्रकार यह एक वर्ष ढाका में रहे।

ढाका में उन दिनों स्वामी त्रिपुरलिङ्ग सरस्वती की अच्छी प्रतिष्ठा थी। भारी मठ और विशाल शिष्य-समुदाय भी था। वहां श्री गुरु महाराज ब्रह्मचारी जी का दिनक्रम पूजा-पाठ, साधन, साधकों को मार्ग-दर्शन आदि से भरा हुआ था। अनेक पत्र भी प्रति दिन आते थे। इन की यह तेजस्विता देखकर स्वामी त्रिपुरलिङ्ग प्रभावित हुए। उनके आश्रमवासीय अच्युतानन्द जी ने श्री गुरु महाराज से शक्तिपात् दीक्षा भी ले ली थी।

श्री योगेशचन्द्र ब्रह्मचारी अपने घर ठहरे। उनका कार्यक्रम भी साधन तथा गुरु-सेवा को लक्ष्य बनाकर रखा गया था। वे प्रतिदिन प्रातःकाल अपना आह्निक पूर्ण कर के गाय का दूध लेकर सरस्वती मठ में जाया करते थे और श्री गुरु महाराज को वंदन करके दूध अर्पण किया करते थे। दोपहर बारह-एक बजे तक वहीं ठहरते। पत्र-व्यवहारादि तथा अन्य जो कुछ काम वहां हो, उस से निपटकर भोजनार्थ घर लौट आते थे। शाम को फिर सत्सङ्ग के लिए गुरु महाराज के यहां जा पहुँचते। शाम देर तक, कभी-कभी रात्रि तक वहीं ठहरते थे। रात्रि को सोने के लिए घर आते थे।

इस प्रकार कार्य-मग्न योगेश को प्राप्त करके भी माता प्रसन्न थी। घर में सब लोगों को यह स्पष्ट हो गया था कि योगेश अब घर रहने के लिए वापिस नहीं आया है। वह साधु-जीवन व्यतीत करना चाहता है। योगेशचन्द्र भी,—'धीरे-धीरे माता से लेकर भाई-बहन तक का मन मुझे साधु-जीवन विताने के लिए अनुमति प्रदान करने योग्य तैयार हो'—इसी निमित्त से घर में रह रहा था। श्री गुरु महाराज भी बीच-बीच में ढाकेश्वरी के मन्दिर में जाकर योगेशचन्द्र की माता से मिला करते और बातचीत किया करते थे। अब योगेश किनके सहवास में आया है? इसका अन्दाजा माता करती थी। 'दुर्लभ सत्सङ्गति में योगेश रहता है', यह देख माता मन ही मन प्रसन्न होती थी। अब वह काहे को माया जाल में फंसेगा? माता धीरे-धीरे अनुज्ञा देने का विचार करने लगी थी।

ब्रह्मचारी योगेशचन्द्र ने अपने भाई को नौकरी कर लेने की राय दी। भाई की शादी कब होगी? इस बारे में भी माता से चर्चा की।

उधर स्वामी त्रिपुरलिङ्ग जी ने श्रीमदात्मानन्द प्रकाश जी से संन्यास ग्रहण कर मठ का उत्तराधिकारी बनने का आग्रह आरम्भ किया। सभी दृष्टियों से तैयार मठ का मठाधिपति बनने का प्रलोभन असाधारण था, किन्तु श्रीमदात्मानन्द जी इसके लिए तैयार नहीं हुए। सभी इनकी इस विरक्ति को देख कर अचम्भे में पड़ गए। हां, श्री गुरु महाराज ने ब्रह्मचारी योगेशचन्द्र को संन्यास लेने को सूचित किया। [क्रमशः]

नियमावली

१—ग्राहक-सदस्यता जनवरी से ही पूरे वर्ष के लिये आरम्भ होगी। बीच में सदस्य बनने वालों को उस वर्ष के पिछले उपलब्ध अङ्क भेज दिये जावेंगे।

२—लेखकों से निवेदन है कि रचनायें कागज के एक ही ओर, पर्याप्त हाशिया छोड़कर, स्वच्छ अक्षरों में होनी चाहियें। अधिक लम्बे लेखों को स्वीकार करना अभी कठिन है। अन्य पत्रिकाओं को भी प्रकाशनार्थ भेजी हुई अथवा अन्यत्र प्रकाशित रचनायें भेजने का कष्ट न करें।

३—लेखक अपनी रचनाओं की प्रतिलिपी अपने पास रख लें, अस्वीकृत रचनाओं को वापिस भेजने का प्रबन्ध नहीं है।

४—लेखों के परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन, छापने अथवा न छापने का अधिकार सम्पादक को रहेगा।

५—बाहर के विज्ञापन स्वीकार नहीं किये जाते।

६—आजीवन सदस्यता की राशि सर्वथा अपरिवर्तनीय है।

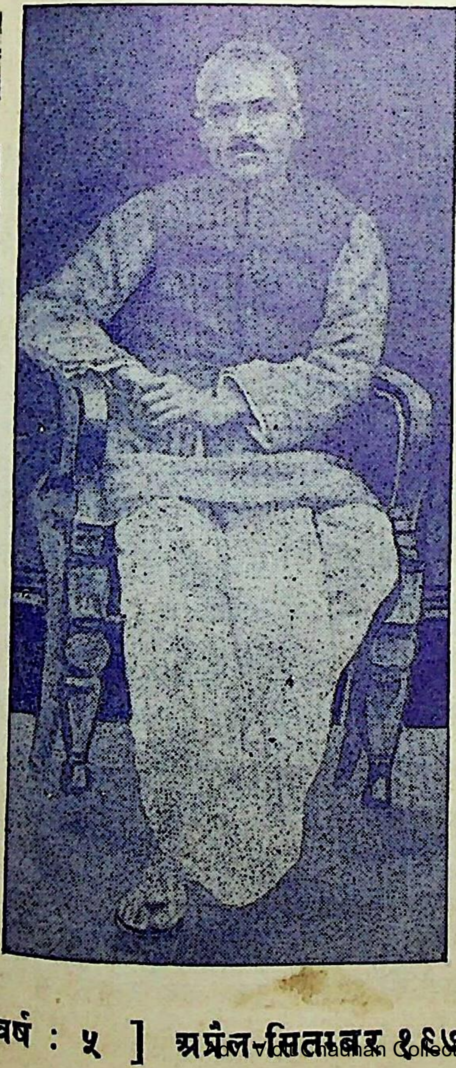
७—विदेशों में रहने वाले ग्राहक-सदस्यों को सामान्य शुल्क के अतिरिक्त डाक-व्यय भी देना पड़ेगा।

८—पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक क्रमाङ्क अवश्य दें। पत्र-व्यवहार तथा शुल्क भेजने का पता—व्यवस्थापक 'दिव्यानन्द', विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश (जि० देहरादून) उ० प्र०।

९—पत्रोत्तर के लिए साथ जवाबी कार्ड अथवा लिफाफा आना आवश्यक है।

सत्वाधिकारी, सम्पादक तथा प्रकाशक श्री स्वामी शिवोमूतीर्थ जी के लिए, श्री देवेन्द्र विज्ञानी द्वारा विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश (देहरादून) उ०प्र० में मुद्रित तथा सिद्ध-साधन-संस्थान, नारायण कुटी, देवास (मध्य प्रदेश) से प्रकाशित।

दिव्यानन्द



ब्रह्मलीन
श्री १००८
श्री स्वामी
विष्णुतीर्थ जी
महाराज
अपने
पूर्वाश्रम में

वर्ष : ५] अप्रैल-सितम्बर १९७१ [अङ्क : २-३

इस अंक में

[पृष्ठ १६ का शेषांश]

नहीं होगा। आज का समाज बाह्य पूजा-पाठ को पाखण्ड, तिलक-माला धारियों को ढोंगी और साधु-सन्त महात्माओं को छिपे बदमाश समझने लगा है और उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगा है क्योंकि उनके कृत्यों और आचरणों में उन्हें उस उच्च आदर्श का अभाव दीखता है। जब करनी वैसी नहीं तो दण्ड-कमण्डलु में क्या रखा है ?

हमें सच्चरित्र के कल्याणकारी साधन का व्रत लेना चाहिये ताकि हम स्वयं सच्चे चरित्रवान् बनें, अपने बालक-बालिकाओं को चरित्रवान् बनाने के लिये उच्च आदर्श रूप हों और हमारे आदर्श को सामने रख कर संपर्क में आने वालों को चरित्रवान् बनने का मनोबल मिले।

सिद्ध-महायोग सम्बन्धी एकमेव त्रैमासिक

卐 दिव्यानन्द 卐

वर्ष : ५] अप्रैल-सितम्बर १९७१ [अङ्क : २-३

प्रेरणा के स्रोत—

शक्तिपातप्रवर्तक श्री स्वामी नारायणतीर्थदेव

शक्तिपाताचार्य श्री स्वामी विष्णुतीर्थ

उद्देश्य—

लोककल्याणार्थ सिद्धसाधन शक्तिपात सम्बन्धी गवेषण, अनुसन्धान एवं ज्ञातव्य-प्रकाशनादि द्वारा श्रेयपथप्रशस्ति

वार्षिक शुल्क—

तीन रुपया

आजीवन सदस्यता-शुल्क—

१०१ रुपये

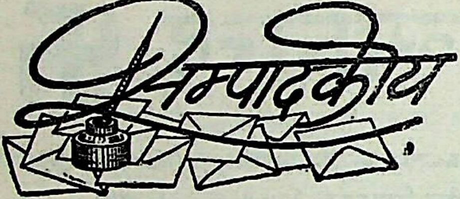
प्रकाशन-मास—

जनवरी, अप्रैल, जुलाई, अक्टोबर

प्रकाशन-स्थल

नारायण कुटी, संन्यास आश्रम,

देवास (म०प्र)



पाठकों से—

इस बार दिव्यानन्द प्रस्तुत करने में काफी विलम्ब हुआ। इसका प्रमुख कारण मेरी अस्वस्थता ही थी। वास्तव में मेरा स्वास्थ्य श्री गुरु महाराज की अस्वस्थता के दिनों में ही ठीक नहीं रहता था। उन दिनों श्री महाराज की अस्वस्थता के कारण श्रमाधिक्य तथा मानसिक दबाव दोनों ही अत्यधिक रहते थे। महाराज श्री के ब्रह्मलीन होने के पश्चात् मुझे चार-छः महीनों तक विश्राम की आवश्यकता थी, किन्तु इस के विपरीत आश्रम-सम्बन्धी कार्य जो श्री महाराज की अस्वस्थता से स्थगित हुए थे, उनका दबाव बहुत अधिक रहा। तदुपरान्त अस्वस्थता और अशक्तता में ही पत्र-व्यवहार, जन-संपर्क, प्रवास तथा दीक्षा-कार्यादि चलते रहे और स्वास्थ्य बिगड़ता ही रहा, कमजोरी बढ़ती गई। गत कुछ मास से मेरी अस्वस्थता का प्रभाव आश्रम-कार्यों पर भी पड़ना आरम्भ हो गया जिसका परिणाम दिव्यानन्द के प्रकाशन पर भी हुआ। फलतः प्रकाशन स्थगित हुआ। प्रस्तुत अंक इस वर्ष का

द्वितीय तथा तृतीय सम्मिलित अंक है। चतुर्थ अंक क्रमानुसार दिसम्बर में पाठकों को प्राप्त होगा।

उपरोक्त परिस्थितियों में स्वास्थ्य और विश्राम को प्राधान्य देकर अन्य सभी प्रवृत्तियाँ दो-तीन महीने के लिये स्थगित रखने का निर्णय लिया है। स्वास्थ्य अनुकूल होने पर सभी प्रवास-कार्यक्रमों पर विचार किया जाएगा। कुछ स्थानों के लिए जाने की स्वीकृति भेज दी है, किन्तु इस वर्ष वहाँ जाना असम्भव है। आशा है कि पाठकगण एवं मेरे मित्र इस विवशता के प्रति लक्ष्य करके क्षमा करेंगे।

राजपथ के पथिक —

राजपथ के पथिक के प्रकाशन पर अपनी परम्परा के साधकों ने काफी हर्ष व्यक्त किया है, किन्तु इसके साथ ही इससे कतिपय भ्रान्तियां भी उत्पन्न हुई सुनने में आई हैं। इस सम्बन्ध में पुस्तक की सीमाओं का उल्लेख करते हुए लेखक का स्पष्टीकरण है कि गुरुदेव श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज के ब्रह्मलीन गुरु तथा उनके ब्रह्मलीन गुरु-बन्धुओं का ही चरित्र पुस्तक में सम्मिलित किया गया है। साथ ही उनके उत्तराधिकारियों का केवल उल्लेख मात्र ही है। शजरा पुस्तक में वर्णित आठ चरित्र-नायकों का परस्पर परम्परागत सम्बन्ध दिखाने तक ही सीमित है। किसी भी वर्तमान महात्मा का चरित्र पुस्तक में नहीं दिया गया। अतः

इस संक्षिप्त शजरे को सम्पूर्ण मानकर किसी का, किसी भी भ्रान्ति का शिकार होना अभीष्ट न होगा। अनेकों ऐसे भी नाम हैं जो लेखक की विषय-परिधि में न होने से छूट गए हैं और अपूर्ण होने के कारण शजरे से यह नहीं समझना चाहिये कि उस में दिये गये गुरुओं के अतिरिक्त और कोई गुरु-पद पर प्रतिष्ठित ही नहीं है।

'दिव्यानन्द' के माध्यम से इस स्पष्टीकरण के पश्चात् मुझे विश्वास है कि यदि किसी को कोई भ्रान्ति हुई हो तो उस का निर्मूलन होगा।

एक और महत्त्वपूर्ण जीवनी—

परमपूज्य गुरुदेव श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज की जीवनी प्रकाशित करने की इच्छा महाराज श्री के ब्रह्मलीन होने के तुरन्त बाद ही व्यक्त की जाने लगी थी। यह सूचना देते हुए हर्ष होता है कि श्री बालमुकुन्द जी पालीवाल ने सरल, सरस और भावपूर्ण भाषा में एक हजार से अधिक पदों में छन्दबद्ध जीवन-चरित की रचना की है जो भूमिका लिखने के लिये मेरे पास पहुँच गई है। आशा है कि शीघ्र ही इसका मुद्रण प्रारम्भ हो जायेगा।

—शिवोमतीर्थ

तनख्वाह की गुलामी

—श्री १००८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज—

अंग्रेजी राज्य में सरकार का नाम 'ब्यूरोक्रैसी' रखा हुआ था जिस का हिन्दी अनुवाद नौकरशाही किया जाता था। नौकर-शाही शब्द में नौकर और शाह दो विरोधी भावों का एकीकरण है। एक ही व्यक्ति नौकर और शाह एक ही समय नहीं हो सकता, परन्तु नौकरशाही का अर्थ यही है कि उस राज्य-संस्था के नौकर, चपरासी और चौकीदार से लेकर गवर्नर जनरल तक, प्रत्येक व्यक्ति कहने और लिखने को प्रजा का सेवक था, परन्तु था वास्तव में एक हाकिम, अफसर या तानाशाह। कलैक्टर के चपरासी के सामने बड़े-बड़े रईस भीगी बिल्ली की तरह जाते घबराते थे और खुशामदियों का तो वह चाचा ही लगता था। साधारण जनता के लिये तो चपरास जनेऊ की तरह कमर पर कसी दीखना आकस्मिक आपत्ति का अरिष्टसूचक होता था। वास्तव में वह चपरासी सर्वशक्तिसंपन्न होता था। गाँव में बड़े-से-बड़े इज्जतदार आदमी को इज्जत उतारना, बनिये की दूकान से बिना मूल्य चुकाये केवल एक डाट के बदले घी-शक्कर लेना, किसी भी चमार को बेगार में पकड़ कर मजदूरी कराना इत्यादि-इत्यादि सब

अधिकार उसकी चपरास में होते थे। इसीलिये कहा कि जहाँ

के चपरासी को इतना अधिकार था, तब हाकिम तो हाकिम ही ठहरे !

प्रत्येक नौकर शाह परन्तु साथ ही अपनी तनख्वाह का गुलाम भी था। तनख्वाह की पराधीनता की तो अधिक व्याख्या करने की जरूरत नहीं दिखती, क्योंकि स्वतन्त्रता आने के २४ वर्ष पश्चात् भी वह आज वैसी ही पूर्ववत् है। एक मिनिस्टर, लोकसभासद, सरकारी पदाधिकारी और एक पुलिसमैन या चपरासी अपनी-अपनी तनख्वाह के कितने पराधीन हैं, यह इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका अन्तःकरण उनके पास नहीं रहता। नौकरी लगने अथवा उस पद के प्राप्त होने के प्रथम दिवस ही शपथ के साथ उसे गिरवी रख देना पड़ता है। यहाँ श्री पुरुषोत्तमदास टंडन जी जैसे बिरले कुछ महानुभावों की गिनती नहीं की गई है और उन के विचारों को पूछता भी कौन है ? नगाड़खाने में तूती की अवाज़ ! एक पुरानी उक्ति है—'कहे जाट सुन जाटनी, तुझे इसी गांव में रहना। ऊंट बिलाई ले गई तो हां जी, हां जी कहना।' किसलिये, एक तनख्वाह के लिये। तनख्वाह के सामने मनख्वाही नहीं चलती।

अंग्रेजों के पहिले हम स्वतन्त्र थे। दिल्ली की बादशाही अपनी पूर्ण सत्ता पर थी, उस की तलवार की सर्वत्र धाक थी, तो भी हम अपने अन्तःकरण के धनी थे, अपनी आन पर

मर मिटना जानते थे। इतिहास का पृष्ठ-पृष्ठ इसकी साक्षी दे रहा है। ब्राह्मण अपने नित्यकर्मों पर दृढ़ था, क्षत्रिय भी धर्मभीरु और अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से हथेली पर सिर रखे फिरता था। धनाढ्य लोग सर्वहितैषी और दानवीर थे और गरीब लोग भी अपने हाथों की कला और पसीने की कमाई पर संतुष्ट रह कर प्रसन्न रहते थे। प्रत्येक नर-नारी अपना कर्त्तव्य, अपना धर्म समझता था और उससे डिगना उसकी दृष्टि में मरणतुल्य था। कोई किसी की तनख्वाह का गुलाम नहीं था। कहा जाता है कि दुनिया के पर्दे पर से अंग्रेजों ने गुलामी की प्रथा उठा दी, परन्तु भारत में तो उनके सौ-दो-सौ वर्ष के राज्य ने ही वेतन-क्रीत गुलामी की वह नींव जमाई है कि शायद उसके उन्मूलन में शताब्दियाँ लगें।

प्रत्येक शिक्षित और अर्द्धशिक्षित नौकरी चाहता है। प्रत्येक माता-पिता अपने बच्चों को पढ़ा कर नौकर देखने के सुवर्णमय स्वप्न देखा करते हैं और प्रत्येक छात्र-छात्रा की महत्वाकाङ्क्षा किसी सरकारी कुर्सी पर बैठने तक की ही होती है। हमारी इस मानसिक गुलामी का कारण तनख्वाह है। इतना ही नहीं, यह दृष्टिकोण भी बहुधा सामने रहता है कि ऊपर की आय कहाँ, कितनी होती है ? तनख्वाह तो निश्चित् ही होती है, परन्तु तनख्वाह के साथ ऊपर की आय अवश्य चाहिये। ऊपर की आय छप्पर फाड़कर ईश्वर की देन नहीं होती, क्योंकि हमने ईश्वर को इस प्रकार आकाश

से सुवर्ण वर्षा करते कभी न देखा, न सुना। वह होती है लुक-छिप कर, पीठ के पीछे हाथ पसार कर अथवा घर के पिछले द्वार से अपने ही देश को हानि पहुँचा कर, गरीब देशवासियों और उनके बालकों का पेट काट कर या सरकारी धन का नाजायज अपहरण करके! फिर भी ये सज्जन देश-भक्ति का पूरा-पूरा उच्चघोष करने में किसी से पीछे रहना नहीं चाहते, क्योंकि तनख्वाहगार हैं।

बीरबल का एक चुटकला है। अकबर को एक दिन बैंगुन का साग बहुत स्वादिष्ट लगा। रसोइया कोई होशियार पाक-शास्त्री था। खूब घी-मसाले डालकर उसने बैंगुन बनाया था। अकबर ने कहा—'बीरबल! बैंगुन बड़ा अच्छा होता है।'

बीरबल हाजिर जवाब था, उसने झट उत्तर दिया—'हाँ, बादशाह सलामत, उसके सिर पर ताज रखा है।' उत्तर चुटकी लेने वाला था कि ताज पहिन कर कौन अच्छा नहीं कहलाता? व्यक्ति का मूल्य नहीं, ताज अर्थात् सत्ता का मूल्य होता है। मूर्ख और दुष्ट सर्वगुण विहीन व्यक्ति भी सत्ता का ताज (मुकुट) धारण करके अर्थात् सत्ता की कुर्सी पर बैठकर सर्वगुणसम्पन्न माना जाने लगता है।

फिर किसी दिन अकबर को बैंगुन का साग खाते-खाते चिढ़ आ गई और उस ने बीरबल से शिकायत की कि बैंगुन बहुत खराब चीज़ है। बीरबल ने तुरन्त उत्तर दिया—'हां हुजूर, इसीलिए तो इस का नाम बेगुण रखा गया है।'

अकबर ने पूछा—'बीरबल, उस दिन तो तुम बैंगुन की तारीफ करते थे और आज बुराई, यह कैसे?' बीरबल ने कहा—'मैं बैंगुन का नौकर नहीं हूं, हुजूर की तनख्वाह का गुलाम हूँ।'

भाव यह है कि तनख्वाह की गुलामी मनुष्य का इतना पतन कर देती है कि वह तन, मन की स्वतन्त्रता, स्वात्माभिमान, अन्तरात्मा की पुकार, आत्मविकास की क्षमता, योग्यता, कहां तक कहें अपनी आत्मा को भी खो देता है। प्रायः यह देखने में आता है कि सरकारी अस्पताल के डाक्टर की अपेक्षा प्राइवेट डाक्टर अधिक विश्वसनीय और योग्य होता है, जज की अपेक्षा वकील अधिक होशियार होते हैं, तनख्वाह पर काम करने वालों की अपेक्षा फुटकर काम करने वाले अच्छा काम करते हैं और अच्छे कारीगर होते हैं; स्कूलों के अध्यापकों की अपेक्षा प्राइवेट ट्यूशन करने वाले अधिक योग्य होते हैं। किसी भी क्षेत्र में देखें, तनख्वाह पर नौकरी करने से मानव का विकास शीघ्र ही कुण्ठित होने लगता है। वे एक ऐसे ढर्रे में पड़ जाते हैं कि उनको स्वतन्त्र रूप से अपनी अन्य शक्तियों को उन्नत और विकसित करने का न अवकाश ही मिलता है, न वे तदर्थ अग्रसर ही होते हैं और बहुधा प्रमादवश लापरवाह हो जाते हैं। कारण स्पष्ट है। मास के अन्त में बंधी हुई निश्चित् आय का आश्रय मनुष्य को इतना पँगु बना देता है कि वह अपनी आभ्यन्तरिक शक्तियों के

आश्रय से दूर होता चला जाता है और उनका विकासोन्मुख होना तो दूर रहा, वे शनैः-शनैः कुण्ठित होने लगती हैं। सरकारी नौकरी छूट जाने पर वह मनुष्य अपने को बड़ी दीन अवस्था में पाता है। वह स्वतन्त्ररूप से किसी भी कार्य के योग्य नहीं रहता। उसका रहन-सहन, उसकी मनोवृत्तियां, उसकी आरामतलबी की आदतें, उसका दफ्तरी ढर्रा अर्थात् एक निश्चित् क्रम की कार्यपद्धति उसे अन्य कामों के सर्वथा अयोग्य बना देते हैं।

क्या रेल को झण्डी दिखाने वाले स्टेशन मास्टर, गार्ड अथवा किसी आफिस सुपरिन्टैण्डैण्ट से यह आशा की जा सकती है कि वह नौकरी से अवकाश प्राप्त करके किसी व्यवसाय में सफल हो ? हम ने ऐसे अनेक उदाहरण देखे हैं कि ऐसे लोग अपने प्राविडैण्ड फंड की रकमों से, जो शेष जीवन के लिये पर्याप्त होनी चाहिये थीं, दो-चार वर्ष में ही हाथ धो बैठे।

१९२१ के स्वतन्त्रता-आन्दोलन के समय महात्मा गांधी ने सरकार को कुण्ठित करने के हेतु स्कूलों, अदालतों और सरकारी नौकरियों का बॉयकाट करने के लिये आन्दोलन उठाया था। उस समय एक बात जो उन्होंने कही थी वह स्मरणीय है। महात्मा जी ने कहा था कि बंधी तनख्वाह पाने वाले व्यक्ति कभी ईश्वर की शरण में रहना नहीं सीख सकते और पुरुषार्थ एवं आत्मावलम्बन की महान् शक्ति से

वञ्चित हो जाते हैं। यह बात अक्षरशः सत्य है। इस का अर्थ यह नहीं कि सरकारी नौकरियों में कोई न जाय, ऐसा होना असंभव होने के साथ वाञ्छनीय भी नहीं। परन्तु जब तक तनख्वाह के आश्रित रहने की दुर्बल मनोवृत्ति का सर्वथा उन्मूलन न होगा, तब तक देश में अनिवार्य शिक्षा से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। आज स्त्रियों में भी उच्च शिक्षा की वृद्धि इसी भावना को लेकर हो रही है। पत्नी भी नौकरी कर के किसी दफ्तर की शोभा बढ़ाना चाहती है, चाहे सन्तानों का कुछ भी हो। यह बात भुला दी जाती है कि मातायें ही भावी देश की निर्माता हैं। उनका दाइत्व बच्चों के पालन-पोषण एवं शिक्षण के लिए पिता से अधिक है। घर तो गृहणी के साथ ही होता है। शिक्षण-प्रणाली ऐसी होनी चाहिये कि जिस से छात्र में स्वावलम्बी रहकर आत्मोन्नत्ति करने का शौक, उत्साह, धैर्य और आत्मबल उत्पन्न हो। देश के होनहार बालक कलैक्टर, तहसीलदार या थानेदार बनने की आकाङ्क्षा न करके किसी भी स्वतन्त्र मार्ग से उन्नत होने की महत्वाकाङ्क्षा से प्रेरित होकर देश में बहुमुखी विकास के नये-नये मार्ग खोलें। सरकारी नौकरियों का प्रलोभन कम हो और नवयुवकों में स्वावलम्बन की भावना जाग्रत हो।

तनख्वाह का आश्रय मनुष्य को ईश्वर की शरण में जाने से रोकता है। उस का मन इतना दुर्बल हो जाता है कि वह

आत्मबल पर भरोसा नहीं रख सकता। वह हाकिमों की चापलूसी और खुशामदें करके अपने तुच्छ स्वार्थों की सिद्धी करता है, दूसरों को हानि पहुंचाने में संकोच नहीं करता, जब दुःख और आपत्तियों का सामना होता है तो उन्हें सहन नहीं कर सकता, दूसरों का आश्रय ढूँढता है, परमात्मा की सहायता से अभिज्ञ दूसरे अपने जैसों के सामने रोता है और दीन बनता है तथा ईश्वर को दोष लगाता है। उसमें मन की दुर्बलता के साथ-साथ चरित्र-हीनता आ जाती है। येन-केन-प्रकारेण धनाभाव की पूर्ति करने के लिए अन्याय, दुष्कर्म और घृणित कार्य करने पर भी वह उतारू हो जाता है।

आज स्वतन्त्रता-प्राप्ति के २४ वर्ष के पश्चात् भी हमारी वही मनोवृत्ति बनी हुई है जो अंग्रेजों के सामने थी। इसी-लिये यहां के राज्य-प्रवन्ध में कोई सुधार नहीं हो सका, वरन् उस में शिथिलता ही आ गई है। देश में नैतिकता के अभाव का मुख्य कारण यही है कि यहां के नवयुवक स्वावलम्बी नहीं बने, उन को अपने पैरों पर खड़ा होना नहीं सिखाया गया। प्रत्येक शिक्षित सरकारी नौकरी चाहता है। गाँवों के आदमी भी नगरों का अनुकरण कर रहे हैं। अपने बच्चों को पढ़ाकर नौकरी की खोज में घर से निकाल देते हैं। आज गाँधी टोपी को नौकरी प्राप्त करने का एक सुगम साधन समझा जाने लगा है। जब तक इस तनख्वाह की गुलाम मनोवृत्ति की भावना का अन्त नहीं होता, देश स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता

और न चीन, जापान या संयुक्त राज्य के स्तर पर उन्नत हो सकता है। सरकार का कर्त्तव्य है कि देश की शिक्षण-प्रणाली में आमूल परिवर्तन करे और विद्यार्थियों में स्वावलम्बी बनने की भावना जाग्रत करे। साथ ही यह भी आवश्यक है कि सरकारी पदों और नौकरियों को प्रलोभन का स्थान न बनने दिया जाये।

जिस दिन भारत का नागरिक अंग्रेजों की देन इस नौकरशाही की परम्परागत मनोवृत्ति और तनख्वाह की गुलामी की भावना से मुक्त हो जायेगा, उसी दिन स्वराज्य का असली नक़्शा देखने को मिलेगा। अभी तो लोकतन्त्र का नाम ही हमने पढ़ा है और हम लोकतान्त्रिक राज्य का विधान कागजों पर लिख कर ही मन बहलावे करते रहते हैं।

× × ×

आडम्बर विहीनता

आज विश्व एक बड़े कठिन युग में से गुजर रहा है। सर्वत्र अशान्ति और अनैतिकता का साम्राज्य है। जीवनोपयोगी पदार्थों का अप्राकृतिक अभाव चरम सीमा पर पहुँच गया है और ऊपर से तीसरे महायुद्ध के बादल अन्तरिक्ष में विकराल रूप धारण करते चले आ रहे हैं। ये सब ईश्वर क कोप के द्योतक हैं। कहा है—'जा को प्रभु दारुण दुख देहीं। ताकी मति पहिले हरि लेहीं।' क्या यह आश्चर्य

की बात नहीं है कि जो हिन्दू-जाति गो-रक्षा के लिए सदैव प्राण न्यौछावर करने उद्यत हो उठती थी, उसी जाति के प्रतिनिधि संसद में गो-बध-निषेध बिल का विरोध करते हैं। ठीक ही है—'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।'

एक ओर हम देखते हैं कि अनन्त राशि खर्च करके यज्ञ किये जाते हैं, कीर्तन मण्डलियों में बड़े ऊँचे-ऊँचे सुरों से भगवान् के कानों में अपनी आवाज पहुँचाने का यत्न किया जाता है, तीर्थ यात्राओं में भक्तों से भरी, भारी भीड़ से लदी, लम्बी-लम्बी ट्रेनें चलती हैं और कुम्भ जैसे मेलों को देख कर प्रतीत होता है कि सनातन धर्म की जय होने में संदेह करने वाला अवश्य अक्ल का अन्धा होना चाहिये। परन्तु दूसरी तरफ निगाह पड़ती है तो सर्वत्र हिंसा और असत्य के व्यवहार का बोल वाला है। चोरियां, डकैतियां, कतल, मारकाट प्रतिदिन की बातें बन गई हैं। गांवों में स्त्री-पुरुष रात्रि को भी निद्रा देवी की गोद में सुखपूर्वक विश्राम लेकर दिन की अशान्तिमयी घड़ियों को भुलाने का अवसर नहीं पा सकते, डाकुओं के भय से त्रस्त किसी प्रकार रातें काटते हैं। भोजन-सामग्री का शुद्ध मिलना असंभव प्रायः हो गया है। अपवित्र, अशुद्ध एवं अस्वास्थ्यकर पदार्थों के सेवन से जाति शनैः-शनैः रोगाक्रान्त होकर आत्महननाभिमुख हो रही है। व्यभिचार, मद्यपान, सट्टेबाजारी, कालाबाजारी आदि अनेकों बुराइयों से दूषित समाज का भविष्य सर्वतोमुखी अन्धकार-

मय दीख पड़ता है। इस का इलाज क्या? इस प्रश्न का उत्तर मैं जिस किसी से भी पूछता हूँ, वह निराशा की वाणी में यही कहता है कि कोई क्या करे, हवा ही उलटी चली है। कौन क्या कर सकता है? घोर कलियुग आ गया। भगवान् के नाम से समाजवादी कम्युनिष्ट और धर्म निर्पेक्ष गणराज्य के ठेकेदार भी भगवान् को धोखा देकर सन्तोष मान रहे हैं, कहते हैं—'भगवान् के भजन से पाप कटते हैं, इसलिये दिन-रात खूब पाप किए जाओ। साथ-साथ थोड़ा कीर्तन-मण्डली में हाजिरी देकर भगवान् के नाम-गान द्वारा रोज नहीं तो साप्ताहिक पापों का प्रायश्चित् कर लिया करो।' इस से सस्ता सौदा क्या हो सकता है? मनोरञ्जन का मनोरञ्जन और पापों से सहज में मुक्ति!

परन्तु मेरी तुच्छ बुद्धि में तो यह बात नहीं समाती। यह तो कोरी आत्मप्रवञ्चना मात्र है। गीता के भगवान् तो इस को नहीं मानते। वे तो कहते हैं कि पापी जन मेरा भजन ही नहीं कर सकता—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्य कर्मणाम्।
ते द्वंद्व मोह निर्मुक्ता भजन्ते माम दृढ़ व्रताः॥

अर्थात्—पुण्य करते-करते जिनके पापों का अन्त हो गया है, वे ही द्वंद्व, मोह से सर्वथा मुक्त होकर दृढ़व्रत पूर्वक मुझे

भज सकते हैं। बुरे कर्म करने वाले मूढ़ नराधम तो मेरी शरण में भी नहीं आ सकते, क्योंकि उनका ज्ञान माया से अपहृत होने के कारण वे आसुरी भाव के आश्रित रहते हैं।

वास्तविक बात यह है कि हमारी करनी कुछ है और दिखावा कुछ। करनी और कथनी विपरीत है। माथे पर तिलक है और कर में माला, परन्तु हृदय में वासना, राग-द्वेष की आग धधक रही है और व्यवहार में हिंसा एवं असत्य का व्यापार है। क्या यह ठीक नहीं है कि हम भगवान् के सम्मुख होने से पूर्व जैसे हाड़-मांस के देह का मार्जन जल-मृत्तिका से करना आवश्यक समझते हैं, वैसे ही अपने अन्तर्देह की कालिमा का मार्जन करना भी अनिवार्य समझें। यदि हमारे चरित्र में कालिमा के दाग पड़े हैं, यदि हमारी दिनचर्या असत्य व्यवहारों से कलंकित है, तो हम भगवान् के सम्मुख होकर क्या यह कहें कि भगवन्! कल के पाप क्षमा करो और आज के लिए छूट दे दो? आज भारत माता का, स्वतन्त्रता देवी का, यह तक़ाजा है कि प्रत्येक व्यक्ति चारित्र्यवान् बने; देश का चारित्र्य उत्थान करे और विश्व में भारत का नाम ऊंचा हो। यदि भारत सुख-समृद्धि चाहता है तो सतत् सत्यनारायण की पूजा में संलग्न रहना सीखना पड़ेगा। केवल सत्यनारायण की कथा सुनने से अथवा उसे मनोरञ्जन का एक साधन बनाने से देश का उद्धार

[शेष आवरण पृष्ठ २ के नीचे]

श्री लोकनाथ तीर्थ जीवन-चरित्

[गताङ्क से आगे]

संन्यास-ग्रहण

सन् १६१४ का काल, ब्रह्मचारी योगेशचन्द्र प्रकाश की आयु २३ वर्ष की होगी। इस वर्ष गुरु-शिष्य अनायास ढाका में आकर ठहरे थे। श्री गुरु महाराज अपने शिष्य को एक-एक बन्धन से मुक्त करना चाहते थे। आपने श्री योगेशचन्द्र को संन्यास ग्रहण करने के लिए कहा ताकि अनायास लौकिक बन्धनों से छुटकारा मिल जावे। श्री योगेशचन्द्र गुरु-आज्ञा-पालन को सर्वश्रेष्ठ गुरु-सेवा समझते ही थे, आजीवन साधुवृत्ति निभाने का निश्चय भी पहले हो चुका था, अब उसी पथ की पृष्ठभूमि में जीवन व्यतीत करने का सौभाग्य श्री गुरु महाराज की इच्छा से प्राप्त होने का अवसर प्राप्त हो रहा था।

प० पू० स्वामी त्रिपुरलिङ्ग सरस्वती महाराज जिस प्रकार श्रीसदात्मानन्द की तेजस्विता पर संतुष्ट थे, उसी अनुपात में दूसरे युवक से भी संतुष्ट एवं प्रभावित थे। स्वामी जी अब वृद्ध हो चुके थे और मठ की व्यवस्था का उत्तरदायित्व

किसी योग्य व्यक्ति के हाथों सौंप देने की चिन्ता में थे। मठ में यद्यपि शिष्य तो अनेकों थे, पर इतना बड़ा उत्तरदायित्व यथाशास्त्र निष्कलंकित निभा सकने वाला कोई नहीं था। मठस्थ शिष्य निष्ठावान्, श्रद्धालु एवं त्यागी थे, किन्तु गुरुत्व की भूमिका रखने वाला कोई न था। इसीलिए स्वामी जी आग्रह-पूर्वक इन दोनों ब्रह्मचारी युवकों से पूछ रहे थे।

श्री गुरु महाराज आत्मानन्द प्रकाश जी ने श्री योगेशचन्द्र को संन्यास ग्रहण के लिए कह ही दिया था और योगेशचन्द्र जी भी अपनी स्वीकृति दे चुके थे, माता की अनुज्ञा भी मिल गई थी, अत: २३ वर्ष की आयु में सन् १६१४ के एक सुदिन शुभ मुहूर्त में यथा-शास्त्र उसी मठ में संन्यास दीक्षा सम्पन्न हुई और उसी समय प० पू० श्री वासुदेवानन्द सरस्वति ब्रह्मलीन हुये। सरस्वती संन्यासियों के कुल में एक अवतीर्ण हुए तो दूसरे तिरोहित हुए ! एक विशेष योगायोग !

ब्रह्मचारी योगेशचन्द्र प्रकाश काषाय वस्त्रधारी संन्यासी बन गए। गृहस्थाश्रम को लांघ कर ब्रह्मचर्य आश्रम से सीधे संन्यासाश्रम में प्रवेश किया। सारे कुटुम्बियों का त्याग, सारे विलास-भोगों का त्याग, सारी आशा-आकांक्षाओं का त्याग, सारे संकल्प-विकल्पों का त्याग, सभी ईषणाओं का त्याग और शीतोष्ण और सुख-दुःख सहने की तैयारी ! दिव्य, परम-वन्दनीय संन्यासाश्रम में श्री योगेशचन्द्र ने अल्पायु में ही प्रवेश किया।

विश्वसम्राट् भी जिसके आगे नतमस्तक होता है, वह संन्यासाश्रम ! जो माता के अतिरिक्त किसी के आगे अपना माथा नहीं नवाता, वह संन्यास आश्रम। श्रीमदाद्याचार्य ने कोपीन - पंचक में इस आश्रम का गौरवपूर्ण उल्लेख करते हुए लिखा है कि काषायवस्त्र - धारी सचमुच बड़भागी है।

- अनपेक्ष, निरपेक्ष, विरक्त संन्यासी बादशाहों के भी बादशाह होते हैं। उन के वस्त्र उनकी अन्तर्स्थिति का निर्देश चिह्न मात्र हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों के अधिकारी ! ब्रह्मज्ञान के अधिकारी ! चतुर्विध आश्रमों का सिरमौर आश्रम सन्यास ! भूलोक के प्रत्यक्ष देव- देवता ! श्रीमदाद्य शंकराचार्य के पश्चात् इस प्रकार अल्पायु में संन्यास ग्रहण करने वाले जो भी संन्यासी हो गए हैं, उन में इनकी गणना अवश्य होगी।

ब्रह्मचारी श्री योगेशचन्द्र प्रकाश का अब आश्रम बदलने के कारण नाम-परिवर्तन हो गया। मठाधिपति संन्यासी गुरु ने स्वामी चिन्मयानन्द सरस्वती योगपट प्रदान किया। अब से ब्रह्मचारी जी संन्यासी बन गए।

इस तेजस्वी युवक के ओजस्वी शरीर पर जब अग्नितुल्य काषाय वस्त्र झलकने लगे तब वृद्ध स्वामी त्रिपुरलिङ्ग सरस्वती के मन में तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई कि नवीन संन्यासी को अपने

मठ का उत्तराधिकारी बना देना चाहिए। यह बात उन्होंने श्री स्वामी चिन्मयानन्द जी से कही।

यह मठ भारी और विशाल था। शिष्य भी अनेक थे, सभी सुविधाएँ उपस्थित थीं। उस समृद्ध मठ का वायुमण्डल रमणीय एवं मनोहारी था। यह सब आकर्षण के लिए पर्याप्त था, पर जिसे मोह हो वह कैसा संन्यासी ?

मोक्षस्य हेतु प्रथमो निगद्यते ।'
वैराग्यमत्यन्तमनित्य वस्तुषु ॥'

अनित्य वस्तुओं का त्याग करने वाले महात्मा मोह में कैसे फँसेंगे ?

स्वामी चिन्मयानन्द जी अपनी भूमिका को भली भांति जानते थे। उन्होंने वृद्ध स्वामी त्रिपुरलिङ्ग सरस्वती जी को विनयपूर्वक उत्तर दिया--'गुरुदेव ! जिस हेतु यह सारा छोड़ दिया है, उसी को निभाने के लिए यह उत्तरदायित्व बन्धनकारक होगा।'

आन्तरिक विरक्ति से सन्तोष होता है—

'जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान'

यह सारी घटना श्री गुरु महाराज श्रीमदात्मानन्द प्रकाश के सामने घटी थी। वे भी इस उत्तर से संतुष्ट हुए। इष्ट परिणाम की परिणति भी इष्ट होती है, इसका यह ठोस प्रमाण था।

ढाका से वे दोनों आगे चल दिए। मातृ-भूमि तथा कुल

स्वामिनी भगवती कालीमाता श्री ढाकेश्वरी का यही अन्तिम दर्शन था। आगे काली माता का दर्शन हुआ, किन्तु अन्तर्याम में।

जन्मभूमि का त्याग

गुरु महाराज श्री आत्मानन्द ब्रह्मचारी जी तथा श्री चिन्मयानन्द सरस्वति जी ढाका छोड़कर वंगदेश में ही भ्रमणार्थ निकले। सिल्चर, विनौती, कमला सागर आदि कतिपय स्थानों में भ्रमण करते हुए वे विनौटिया में ज्ञान-साधन-आश्रम की ओर आए। यहां श्री परम गुरु १००८ श्री नारायण तीर्थ देव महाराज के शब्दों की स्मृति हुई— "इसके साधन की गति तीव्र है, स्वतन्त्र एकान्त में साधन हो तो बहुत बढ़ जाएगा।"

ब्रह्मचारी श्री आत्मानन्द जी ने स्वामी श्री चिन्मयानन्द जी से इस संबंध में एकान्त में विचार-विमर्ष किया। परम-गुरु की इच्छा भी अभिव्यक्त की और एक देहात की ओर इशारा करके कहा कि वहाँ जाकर मठ-स्थापना करो तथा साधनरत रहो। आज्ञाकारी स्वामी जी शीघ्र ही नियुक्त स्थान की ओर चल पड़े। वहाँ जाकर उन्होंने एक मन्दिर में निवास किया।

यह स्थान साधन के लिए बड़ा ही सुन्दर था। असीमित प्रसन्न, शान्त और निरामय प्रकृति खेल रही थी। मन्दिर के निकट से ही गङ्गा बहती थी। स्वामी जी को स्थान पसंद आया और उन्होंने अपनी तीव्र साधना का प्रारंभ किया।

ब्राह्ममुहूर्त में ही स्वामी जी साधना में लग जाते थे। लगातार आठ-दस घण्टे साधन होता रहा। साधन के पश्चात् मध्यान्ह में गाँव में भिक्षा के लिए जाते थे। ग्राम्यजनों को स्वामी जी का आकर्षण था, इसलिए वे संपर्क की कामना करने लगे। किन्तु स्वामी जी की अन्तर्मुखता के कारण वे सफल नहीं रहे। स्वामी जी किसी से भाषण नहीं करते थे, अहर्निश निजी मस्ती में डूबे रहते। दोपहर में अल्प विश्राम लेकर पुनः साधना में लग जाते थे। सन्ध्या समय निसर्ग निहारने तथा सन्ध्यावन्दनादि में व्यतीत करते थे। शक्तिपातयोग महासिद्धयोग साधन है। इस साधन में जप, ध्यान या आसन की कोई आवश्यकता नहीं होती, केवल समय और समर्पण चाहिए। अतः स्वामी जी अधिकांश समय साधना के लिए देने लगे। ठीक इसी ढंग से पूरे दो महीने बीते।

स्वामी जी का एकान्तवास तथा मौन अब लोगों को अखरने लगा। किसी बड़ या पीपल के तले बैठकर वे तरह-तरह के तर्क करने लगे। साधना काल में होने वाली क्रियाएँ

उनको विचित्र-सी लगती थीं। कोई कहता था कि यह जरूर वामाचारी है। रात भर पूजा में लगा रहता है, न जाने द्वार बन्द करके क्या करता है, सुबह चिल्लाता है? हो न हो यह गाँव की हानी का कारण बन जाएगा। इस प्रकार स्वामी जी उनकी चर्चा का विषय बने।

एक दिन सुबह गाँव में हुड़दंग मचा। गाँव के गुण्डे डण्डे लेकर मन्दिर की ओर बढ़े। जोर-जोर से नारे लगाते हुए वे मन्दिर के निकट पहुंचे। स्वामी जी ने बाहर आकर हमलावरों को देखा और सोचा कि अब स्वस्थ होकर बैठना हितावह नहीं, अतः वे भी कमर कसके तैयार हुए। किसी कोने में डण्डा पड़ा हुआ था, उसको उठा लिया और बाहर बड़े वेग से निकल पड़े। वंग भाषा में तीव्र ताड़न शुरू हुआ। लाठी चक्करदार घूमने लगी। स्वामी जी ने अपना रौद्र स्वरूप प्रकट किया। कहने लगे—'आओ लड़ने को! हिम्मत हो तो आगे बढ़ो! बांधो ढाढस!' यहां स्वामी जी की निर्भयता का दर्शन हुआ जो कि उनका स्थाईभाव था। दैवीसंपत् का सिरमौर गुण 'अभय' ही है। गुण अमूर्त होते हैं, किन्तु किसी व्यक्ति विशेष में वे साकार बनते हैं। स्वामी जी में निर्भयता साकार हुई थी। स्वामी जी का ताण्डव देखकर गुण्डे हक्के-बक्के हुये। मन्दिर के सामने एक सांकरी गली थी, वही युद्धक्षेत्र था। स्वामी जी गली के इस

छोर से उस छोर तक लाठी घुमाते रहे। संन्यासी का वीरत्व देखकर गांव के लोग भी चकित हुये। किसी की आगे आने की हिम्मत न रही, सभी वापस लौट गये।

प्रसंग टल गया, किन्तु स्वामी जी ने ग्राम-त्याग की सोची। गुरुदेव ने यहीं ठहरने को कहा था, इसलिये कुछ दिन ठहरकर वे श्री गुरु महाराज के दर्शनार्थ 'ज्ञान साधन आश्रम' की ओर निकल पड़े। 'पलायनमपि मिथ्या' का स्मरण यहां होता है।

आश्रम पर पहुँचने के बाद ज्ञात हुआ कि श्री गुरु महाराज ब्रह्मचारी श्री आत्मानन्दप्रकाश काशी जाने वाले हैं। स्वामी जी ने परम गुरुदेव १००८ श्री नारायणतीर्थ जी को प्रणाम किया और उनके निकट खड़े रहे। उन्होंने स्वामी जी को आशीर्वाद दिया और कहा—'गुरु-कर्त्तव्य को आगे निभाने का उत्तरदाइत्व आप जैसे शिष्यों पर है। भगवान् निःसंशय आपसे पूर्ण करा लेंगे।' थोड़े ही दिनों में आत्मानन्दप्रकाश जी ने कई सज्जनों के साथ काशी-क्षेत्र की तरफ प्रयाण किया।

स्वामी जी गुरु महाराज के साथ ही निकल पड़े। दोनों ने इन दिनों में अनेक स्थानों में भ्रमण किया, उत्तराखण्ड के अन्तर्गत कई क्षेत्रों का दर्शन किया। यह गुरु-शिष्यों की पद-यात्रा बड़ी अनूठी रही।

गुरु महाराज ब्रह्मचारी थे और शिष्य (स्वामी जी) संन्यासी थे, किन्तु गुरु-सेवा में स्वामी जी ने अपने आश्रम को विघ्नरूप नहीं बनाया। संन्यासाश्रम का बड़प्पन उनको छुआ तक नहीं। आश्रम-व्यवस्था के अनुसार संन्यासी अग्नि स्पर्श नहीं करते, अतः अग्नि स्पर्शादि के सिवा अन्य सभी कार्य स्वामी जी स्वयं करते थे। सेवा-धर्म की गहनता को वे भली भांति जानते थे, इसलिए उनकी गुरु-सेवा में कोई त्रुटी नहीं थी। हिमालय की इस पद-यात्रा में स्वामी जी स्वयं बोझ उठाते थे। इस प्रकार पर्यटन करके स्वामी जी उत्तरकाशी रुक गये तथा गुरु महाराज काशी क्षेत्र में लौट आये। काशी में वे पाण्डे हौली मुहल्ले में रहने लगे। यह वही मकान था, जहां श्री परम गुरुदेव नारायणतीर्थदेव कुछ समय रहने के लिये आये थे। मकान किराये पर लिया था। उसमें पूरी व्यवस्था कर दी थी।

कुछ दिनों के बाद स्वामी श्री चिन्मयानन्द जी गुरु महाराज की तलाश में बनारस आ पहुंचे। कई मठों में, मन्दिरों में पूछताछ की, किन्तु कोई पता न लगा। एक दिन अचानक किसी स्थान पर गुरु महाराज मिल गये। स्वामी जी को अत्यानन्द हुआ। कई दिनों तक वे वहां रहे।

इसी कालावधि में बनारस में परम गुरु श्री नारायण-तीर्थदेव तथा ब्रह्मचारी योगानन्द (ऋषिकेश) उपस्थित थे।

अन्य महान साधकगण भी आये हुये थे। सबका स्वामी जी के साथ परिचय हुआ। ब्रह्मचारी श्री योगानन्द जी ने स्वामी जी के प्रति शुद्ध भाव प्रकट किये। आखिर तक दोनों में परस्पर अटूट सम्बन्ध रहा। स्वामी जी की विरक्ति तथा तपस्यापूर्ण जीवनक्रम से सभी साधकगण प्रभावित हुये थे। यह उल्लेख ब्रह्मचारी योगानन्द जी ने अपने पत्र में किया है जो यथा-स्थान दिया जायेगा।

सन् १९२० में श्री नारायणतीर्थदेव विनौटिया लौटे। साथ श्री आत्मानन्दप्रकाश जी थे। स्वामी जी गुरु-आज्ञा लेकर फिर से हिमालय की ओर चले गये। हिमालय का उन्हें विशेष आकर्षण था। वे प्रयाग, हरिद्वार, ऋषिकेश आदि स्थानों में कुछ दिन ठहर कर स्वर्गाश्रम में आ पहुँचे। ब्रह्मचारी योगानन्द जी उस समय यहाँ रहते थे। स्वामी जी के आदर्श जीवन-क्रम तथा शुद्ध विचारों को देखकर योगानन्द जी के मानस पटल पर स्वामी जी का पवित्र चित्र अंकित हुआ। स्वामी जी नित्य साधनरत रहते थे। स्वतन्त्र जीवन था, जन संपर्क भी अत्यल्प था। इसी कारण स्वामी जी दिन रात साधना की मस्ती में डूबे रहते थे। न साधन की कमी, न अनुभवों की। गुरु-कृपा से प्राप्त सिद्ध साधन द्वारा ही यह चिन्मयावस्था उन्हें प्राप्त थी।

"डुबकी मारी समुद्र में निकसा जाय आकास।
गगनमण्डल में घर किया हीरा पाय दास॥"

और भी गहरे पानी में डुबकी लेने के लिए स्वामी जी ने ऋषिकेश छोड़ा और वे टिहरी गढ़वाल के जंगल में आये।

टिहरी के जंगल में अज्ञात साधना

प० पू० श्री स्वामी चिन्मयानन्द सरस्वती महाराज ने अपने स्वर्णिम दिव्य जीवन को प्रदीप्त अग्निरूप संन्यासाश्रम में समर्पित करके कांतिमान् बना दिया था। इस दिव्य तेज को पूर्णरूपेण पचाने के लिए वे यहां अति शीतल तपोभूमि में आ पहुंचे। उन्मादशक्ति का संचार करने वाली महाशक्ति को कण-कण में स्थिर करना था। गुरुप्रदत्त शक्ति-संचार की चरम और परम अवस्था साक्षात् करने के लिये वे यहाँ गगा जी की गोद में आये हुये थे। यह स्थान उन्होंने पहले से ही चुन रखा था, किन्तु इस बात को उन्होंने कभी प्रकट नहीं किया था। उस तपोभूमि ने उनको खींच लिया था। योगी-तपस्वी-साधु सिद्ध भूमि की ओर स्वाभाविक ही खिंच जाता है, क्योंकि ऐसी सिद्धभूमि तपस्वियों को अपने ब्रह्मानन्द साक्षात्कारी वायुमण्डल से प्रभावित करती है।

चौबीस-पच्चीस साल का नवयुवक, सरस्वति पीठ से संन्यास-दीक्षा ग्रहण करके कुछ ही दिनों से यहाँ आया हुआ था। युवावस्था में भी उसकी गम्भीरता, विचार-प्रौढ़ता तथा कृतनिश्चयता प्रकट होती थी। मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य को ही लक्ष्य बनाकर वह युवक संन्यासी आधुनिक

आकर्षणों का त्याग करके यहां पहुंचा था। भगीरथ की

तपोभूमि ने उसे आकर्षित किया था।

दुनियाँ और दुनियाँदारी को रुई की तरह एक फूँक से उड़ा कर जीवन व्यतीत करने वालों की अन्तस्थ महाशक्ति जितनी अनाकलनीय है, उतनी ही चिन्तनीय है।

हरिद्वार के आगे ऋषिकेश होकर जब हम बद्रीनाथ-केदारनाथ की ओर जाते हैं तब प्रथम ही टिहरी गढ़वाल जिला आता है। ऋषिकेश समुद्रतल से ११४० फीट ऊँचाई पर है। यहां से आगे देवप्रयाग से गंगोत्री तक का भागरथी का किनारा टिहरी गढ़वाल कहा जाता है। पहले टिहरी के महाराजा रावल बद्रीनाथ-केदारनाथ के मन्दिरों की देखभाल करते थे। वर्तमान में यह जिला उत्तर प्रदेश में शामिल हुआ है।

ऋषिकेश से ऊपर देवप्रयाग नामक तीर्थ है। दो या अधिक नदियों के संगम-स्थान को प्रयाग कहते हैं। उत्तराखण्ड में पांच प्रयाग प्रसिद्ध हैं। देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, कर्णप्रयाग, नन्दप्रयाग और विष्णुप्रयाग। देवप्रयाग १५५० फीट ऊँचाई पर है। यहाँ मन्दाकिनी के साथ-साथ अन्य नदियों को अपनी गोद में लेकर अलकनन्दा भागीरथी से मिलती है। यहाँ से इस प्रवाह को भागीरथी, जाह्नवी, पापविनाशिनी, गंगा मैय्या आदि कहते हैं। अनेकों जल-प्रवाह मिलने पर

भी 'गङ्गा माता' का नामान्तरण नहीं हुआ। हमारा साधन-पथ भी गङ्गा मैय्या के समान है। सभी साधनों को अपने में विलीन करके अन्त तक पहुंचा देने से ही इसे महासिद्धयोग साधन कहते हैं।

भागीरथी की घाटी बहुत ही सुन्दर है। देवप्रयाग, जह्नु ऋषि का आश्रम, उत्तरकाशी, गंगोत्री, जमदग्नि आश्रम, रेणुका माता का जल भरने का स्थान आदि इस प्रदेश की सुन्दरता तथा पावित्र्य बढ़ाते हैं। गङ्गोत्री से देवप्रयाग तक भागीरथी में छोटी नदियों के अतिरिक्त भिलंगना, वरुणा जैसी बड़ी नदियां भी आकर मिलती हैं। यह वही प्रदेश है जहां भागीरथी ने सगर के साठ हजार पुत्रों का उद्धार किया था। इस भूमि को पाण्डवों की तथा राजा भगीरथ की तपोभूमि भी कहते हैं। इसी भूमि में यज्ञ-मण्डप बनाये जाते थे, वेद-मन्त्रों का सुघोष सुनाई देता था, ऋषिओं को वेद श्रवण की अनुभूति होती थी। नगराज हिमालय के उत्तुँग शिखरों से निकली हुई हिमशीतल शुभ्र जलधारा प्रत्येक भारतीय मानस की वन्दनीय है।

यही पवित्रतम भूमि स्वामी जी की तपोभूमि थी। यह प्रदेश 'टिहरी का जंगल' कहा जाता था। वृक्ष, घाटियाँ, पहाड़ियां, उछलते-कूदते जल-प्रवाह से इस प्रदेश की प्रकृति और ही ढंग से खिली है जो काश्मीर से थोड़ी भिन्न

भासमान होती है। काश्मीर की प्रकृति शृङ्गार की ओर झुकी है तो यहां की प्रशांत गम्भीरता की ओर। वहां की नयनाह्लादिनी है तो यहाँ की चित्ताह्लादिनी है। वहाँ की प्रकृति दर्शकों को बहिर्मुखता की ओर ले जाती है तो यहाँ की अन्तर्मुखता की ओर।

ऐसे प्रशान्त मनोहर-पवित्रतम सिद्ध स्थान में स्वामी जी ने तपस्या प्रारम्भ कर दी। यहां ही उनको पूर्णावस्था का लाभ हुआ। टिहरी में स्वामी जी ५,६ साल रहे। प्रकृति का आकर्षण स्वामी जी को था ही, अब उसका चिर सहवास प्राप्त होने से वे अधिकतर मुदित हुये। उनको कोई असुविधा दुःखरूप प्रतीत नहीं होती थी। शीत वे सह लेते थे और कंटीले वृक्ष पर मिलने वाले फल से क्षुधा की निवृत्ति करते थे। पच्चीस साल की आयु से पहाड़ों से टकराने वाली निर्भयता, वैराग्य, तितिक्षा, जीवन-विषयक दृष्टिकोण तथा निश्चयात्मिका बुद्धि आदि का दर्शन होता था। वे किसी की बकवास से नहीं डरे, किन्तु सभी के सम्मुख निडरता से खड़े रहे। इन दिनों में स्वामी जी ने न देह की परवाह की, न तनिक भी साधन की उपेक्षा की। कितना परिश्रमी और कठिन जीवन होगा ?

शिष्य की इस साधना को देखकर श्री गुरुदेव फूले न समाते थे। शिष्य की क्षमता पर उन्हें विश्वास हुआ। अतः

प्रत्यक्ष मार्गदर्शन की आवश्यकता न रही। केवल प्रेरणा से सारा काम बनता रहा। वही प्रेरणा क्रियात्मिका बनकर जीवन-कार्य साकार करने में सफल होती गई। साधना में अब प्रेरणा होने लगी—'दक्षिण की ओर चलो, यहां मत ठहरो!' अतः स्वामी जी टिहरी छोड़कर हाथरस आये।

हाथरस उत्तरप्रदेश में है। गंगा-जमुना के दुआवे में बसा हुआ है। यहाँ स्वामी जी ने एकान्त स्थान में अपना स्थान निर्माण किया और साधन के लिए गुफा भी बना ली। अब भी स्वामी जी समाजाभिमुख नहीं थे; उनको एकान्त ही प्रिय था। अन्तः प्रेरणा के अनुसार भले ही वे हिमालय से दक्षिण की ओर आये, किन्तु उनका नित्य दैनिक क्रम वही था जो टिहरी के जंगलों में था।

यहां से स्वामी जी होशंगाबाद चले गए। यह वृत्तांत 'दिव्यानन्द' में 'दक्षिण की ओर चलो' शीर्षकान्तर्गत पहले ही छप चुका है।

विश्वसूत्रधार की और कुछ योजनाएँ

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्योमद्भक्तः स मे प्रियः॥

भगवान् श्री कृष्ण ने अपने प्रिय भक्तों के जो लक्षण

बताये हैं, वे सब हमारे सद्गुरु श्री गुलवणी जी महाराज में विद्यमान् हैं।

वे सदा संतुष्ट हैं। संयमी हैं। दृढ़ निश्चयी हैं। भगवद् चरणों में मन और बुद्धि समर्पित किये हुए महान् योगी भी हैं, अतः वे भगवद्प्रिय हैं।

अब हम इनके श्री स्वामी जी के दर्शन से पूर्व के जीवन के कुछ अंश देखेंगे।

श्री सद्गुरु गुलवणी महाराज के प्रथम गुरु श्री प०पू० श्री वासुदेवानन्द सरस्वति स्वामी महाराज सन् १९१४ में आषाढ़ शु० १ को नर्मदा तट पर स्थित गरुड़ेश्वर में ब्रह्मलीन हुये। उनसे जो प्राप्त था, उसी के बल पर वे प्राप्तव्य की ओर जा रहे थे। 'गुरु-कृपा से हम आगे बढ़ेंगे'—ऐसी उनकी दृढ़ श्रद्धा थी और सदैव रही। 'प्राप्तव्य की अनुभूति स्वयं को ही होती है, अतः स्वयं ही प्रयत्नशील रहना चाहिए'—यह उनकी दृढ़ धारणा है।

योगाभ्यास में प्रगति करने के लिए श्री गुरु महाराज श्री टेंबे स्वामी महाराज के पश्चात् किसी मार्गदर्शक की खोज में थे। कुण्डलिनी जागृति की धुन उन पर सवार थी। दिन-रात वे व्याकुल रहते थे।

सन् १९१७ में वार्शी में वे चित्र-शिक्षक थे। वहां भी

उन्होंने अपना जीवन इस मार्ग के अनुकूल बनाया था। प्रातः से लेकर विद्यालय के समय तक आसन, प्राणायाम और तदनंतर सिद्धासन पर नित्य अनुष्ठान होता रहा। इस प्रकार तीन-चार साल बीते, किन्तु पथ-प्रदर्शक की समस्या तो कायम रही।

उन दिनों श्री काशीक्षेत्र के श्री योगानन्द नामक ब्रह्मचारी वार्शी पधारे थे। सप्ताह तक उनका प्रवचन था। आम जनता प्रवचनों से प्रभावित हुई थी। सभी ने आसन, प्राणायामादि के मार्गदर्शन की इच्छा व्यक्त की। तब उन्होंने श्री गुलवणी महाराज का निर्देश करके कहा—"ये श्रेष्ठ योगाभ्यासी हैं, इनसे मार्गदर्शन प्राप्त करो।" योगानन्द जी श्री गुलवणी महाराज की प्रगति से संतुष्ट थे, किन्तु श्री गुलवणी महाराज को संतोष न था, यद्यपि वे षट्क्रिया, मत्स्येन्द्र पीठ आसन, प्राणायामादि में पारङ्गत थे। उनका यह अभ्यास भी मामूली न था।

वार्शी में मित्र-परिवार बड़ा था, किन्तु श्री वैद्य मास्टर उनके अधिक निकटवर्ती थे। वे भगवद्भक्त भी थे और ज्ञानी भी, केवल अनुभवों की कमी थी। अतः उनके भी तीव्र तथा दीर्घ प्रयत्न चालू थे। इस पर 'योगपथ गुरु-कृपा और पौरुषप्रवृत्ति बिना सुतरां कठिन है'—इसका ख्याल आता है।

बार्शी में एक मारवाड़ी सज्जन के यहां पुष्कर के

प० पू० श्री ब्रह्मानन्द जी लिखित 'योगरसायन' जैसी किताबें आती थीं। श्री गुलवणी जी ने उनसे पत्र-व्यवहार किया। अनुकूलता देखकर वे पुष्कर जाकर कुछ दिन रहे, परन्तु स्वास्थ्य ठीक न रहने से वापस पूना लौटे। फिर से द्विधा में गिरे। इतने में अपने गुरुबन्धु श्री गोविन्द महाराज पण्डित का स्मरण हुआ। श्री गोविन्द महाराज योगाभ्यासी थे और होशंगाबाद में किसी दत्त मन्दिर में रहते थे। वे सीकरी के निवासी थे। श्री वासुदेवानन्द सरस्वति के शिष्य थे। श्री गुलवणी महाराज से उनकी प्रथम भेंट पवनी के चातुर्मास में हुई थी। अनन्तर वे गरुड़ेश्वर में भी परस्पर मिलते थे। एक बार कोल्हापुर में उनकी मुलाकात हुई। प्राणायामादि के उच्च अभ्यासी थे। जीवन का शेषकाल वे होशंगाबाद में खर्रा घाट पर कुटुम्बियों के समवेत व्यतीत करते थे। अनेक जिज्ञासुगण उनसे मिलने आते थे। खर्रा घाट पर जो दत्त मन्दिर था, उसे श्री प० पू० वासुदेव जी के भाई श्री सीताराम ब्रह्मचारी ने बनवाया था। मन्दिर के पास ही साधकों के अभ्यास के लिए ५,६ कुटियाँ भी बना रखी थीं।

श्री गुलवणी महाराज ने पत्र से श्री गोविन्द महाराज के पास अपनी इच्छा प्रकट की। प्रत्युत्तर आया— 'प्राणायाम के अभ्यास द्वारा मैं तुम्हारी कुण्डलिनी अवश्य-

मेव जाग्रत कर दूंगा। आप यहाँ आकर ठहरना।' इसी समय सन् १९२१ में नागपुर के रायबहादुर श्री सदाशिवराव माधवराव पराण्डे होशंगाबाद में डिस्ट्रिक्ट जज नियुक्त हुये। उनको दादा साहब कहते थे। वे अत्यन्त बुद्धिमान् चिकित्सक और प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। विद्या, सम्पद् तथा प्रतिष्ठा का संगम उनमें होते हुए भी वे अत्यन्त सदाचार संपन्न, शास्त्रनिष्ठ तथा साधु-प्रेमी थे। उनको भी योगशास्त्र में रुचि थी। सत्संग की उनको काफी लगन थी, इसलिये किसी भी साधु या सन्तस्वभावी सज्जन के मिलने पर वे फूले न समाते थे। वे उनको घर ले जाते थे, आतिथ्य करते, भोजनादि का प्रबन्ध करते, उनसे खूब चर्चा करते—'यह क्या है, मैं कौन हूँ ?' - आदि अपनी जिज्ञासा-तृप्ति में लगे रहते थे।

उन दिनों वे तन्त्रमार्गीय ग्रन्थ भी पढ़ते थे। कुलार्णव तन्त्रान्तर्गत वेध दीक्षा की ओर वे अधिकतर आकर्षित हुये। 'समर्थ गुरु के द्वारा शक्तिपात होने पर शक्ति संक्रमण से कुण्डलिनी जाग्रत होती है। अभ्यास के पहाड़ तोड़ने की आवश्यकता नहीं, केवल गुरु-कृपा चाहिये। साधक अल्पकाल में ही शक्ति संचार का अनुभव कर पाता है'—आदि रहस्यपूर्ण बातें उनके पढ़ने में आईं। बस, तब से ही उनमें इस साधन-सम्बन्धी तीव्र जिज्ञासा घर कर बैठी।

दादा साहब का ख्याल था कि इस प्रकार की गूढ़

विद्यायें अधिकांश बंगाली साधु जानते हैं। अतः उन्होंने चटर्जी नामक वकील सज्जन से यह बात कही और कहा —'इस प्रकार के कोई साधु-संन्यासी मिलें तो मुझे अवश्य कहियेगा।'

शके १८८४ सन् १९२२ का भाद्रपद मास था। श्री गणेश-चतुर्थी का पर्व था। दत्तावतारी श्रीपाद वल्लभ स्वामी जी महाराज की जन्म-जयन्ती थी। इसी मंगल सुदिन को गुलवणी जी महाराज अपनी माता वन्दनीय उमादेवी जी के साथ होशंगाबाद पहुंचे।

खर्रा घाट पर गुरु-बन्धुओं के साथ योगाभ्यास

श्री गुलवणी जी महाराज के साथ-साथ श्री शंकर काका आजेगांवकर तथा श्री बाबा महाजन हिंगोली से यहां आये थे। दोनों श्री वासुदेवानन्द सरस्वती के परम भक्त थे। बड़ी कठिनाई से उन्हें गुरु-सहवास प्राप्त हुआ था। कई दिन दोनों ने गुरुदेव के साथ पैदल भ्रमण किया था। उनकी भी कुण्ड-लिनी जाग्रति की इच्छा प्रबल हो रही थी।

इसी समय वार्शी के श्री वैद्य मास्टर पुष्कर में श्री ब्रह्मा-नन्द जी से मिलकर होशंगाबाद आये थे।

ये सभी मुमुक्षु खर्रा घाट के ऊपर साधनार्थ बनाये हुए बंगलों में से ही एक बंगले में ठहरे। वह बंगला ग्वालियर

के हणमंतराव फालके ने बनाया था। सभी गुरुबंधु श्री

गोविन्द महाराज पंडित जी से निजी स्थिति के अनुसार मार्ग-दर्शन प्राप्त करके अभ्यास में व्यस्त हुए।

सद्गुरु श्री गुलवणी महाराज इस अभ्यास में काफी आगे बढ़े। आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, सदा परमार्थ की धुन, शास्त्रनिष्ठा, शुद्धाचार, नित्योपासना आदि सब कुछ इस पथ के लिए पूरक थे। उन दिनों में उनका केवल कुम्भक तीन मिनट तक होता था। प्राणायाम के ज्ञाता ही उसकी महत्ता जानते हैं।

श्री गोविन्द महाराज के ध्यान में गुलवणी जी का अधिकार और अवस्था आई। वे बड़े प्रसन्न हुए। आगे की प्राणायाम-पद्धति बतलाई गई। उसी के अनुसार तितिक्षा-पूर्वक अभ्यास शुरू हुआ। कुण्डलिनी चालन की हठयौगिक क्रियायें बहुत ही कठिन रहती हैं। श्री गुरु महाराज को यही क्रियायें बताई गईं थीं। 'सहनं सर्व दुःखानामप्रतिकार पूर्वकम्'—इस प्रकार प्रखर तप चालू था। मुमुक्षुत्व तथा तीव्र जिज्ञासा की नींव पर यह साधना प्रतिष्ठित थी। एक ही उद्देश्य था कि प्रत्यक्ष अनुभूति हो, शक्ति का जागरण हो और उस भगवती जगत् जननी का हाथ पकड़ कर आगे मार्गक्रमण हो।

अनुभव ही ज्ञान है और ज्ञान ही मोक्ष है। यही

चरम अवस्था है। शिव गीता में मोक्ष की व्याख्या की है—

'अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः।'

श्री गुलवणी महाराज का प्राणायामादि अभ्यास शुरू हुआ। शरीर कोमल, कृश हो रहा था।

वैसी दीक्षा मैं दे सकता हूँ

'ॐ भवति भिक्षां देहि' कर्णपटल पर शब्द आये। चटर्जी साहब ने खिड़की से झाँका तो बाहर एक तेजस्वी युवा संन्यासी खड़ा था। वे झट बाहर आये और पूछताछ की। मालूम हुआ कि संन्यासी बंग निवासी है और यहाँ मंगलवार घाट पर किसी कोठरी में ठहरे हैं। भिक्षा प्रदान की। स्वामी जी चले गये।

चटर्जी भी भोजनादि कर के कोर्ट में गये। दोपहर के मध्यान्तर में वकील साहब 'बार' में गये। वहाँ जज साहब से मिले और कहा—'कई दिन पूर्व आपने किसी बंगाली साधु से मिलने की इच्छा व्यक्त की थी, वह आज मूर्तरूप होगी। मुझे एक युवा संन्यासी मिले हैं। बड़े तेजस्वी हैं। मंगलवार घाट पर ठहरे हुए हैं। मिलना हो तो आज चलें।'

दादा साहब का विचार-चक्र शुरू हुआ। काम करते

करते कई बार एक जाते। कोर्ट बन्द हुई और दादा साहब मंगलवार घाट की ओर अकेले ही निकले। निर्दिष्ट कोठरी के पास आये और झाँका। संन्यासी शान्तचित्त होकर बैठे हुए दिखे। बालमूर्ति देखकर वे प्रसन्न तथा आश्चर्यचकित भी हुए। अन्दर जाकर वन्दन किया और थोड़ी दूरी पर बैठ गये।

स्वामी जी ने पूछताछ की। दादा साहब ने भी यथा-योग्य उत्तर दिये। दादा साहब ने भी उचित पूछताछ की क्यों कि संन्यासियों से उनके वैयक्तिक तथा व्यावहारिक जीवन सम्बन्धी प्रश्न करना अनुचित है, यह वे भली-भांति जानते थे। दर्शन का प्रथम दिन था, अतः गहरे पानी में न घुसकर केवल विज्ञप्ति की—"स्वामी जी! कल मेरे यहां भिक्षा करने का अनुग्रह करें।" स्वामी जी ने अनुमति दी। दादा-साहब हर्षान्वित होकर घर लौटे।

दूसरे दिन नियत समय पर स्वामी जी दादा साहब के यहाँ उपस्थित हुए। उन्होंने संन्यास-धर्मानुसार स्वामी जी का विधिवत् आतिथ्य किया। मन ही मन दादा साहब को लगा कि इनसे शास्त्रचर्चा करने से अधिक लाभ होगा।

आपस में बातें होने लगीं। सवालों पर स्वामी जी संतुष्ट हो रहे थे, जवाबों पर दादा साहब खुश हो रहे थे। स्वामी जी का एक-एक शब्द 'वेदान्त' की परिभाषा का दर्शन

कराता था। अत्यंत सुबोध, सरल एवं सुस्पष्ट शब्दों में स्वामी जी निरूपण कर रहे थे। धीरे-धीरे दादा साहब की धारणा होनी लगी कि स्वामी जी कोई सत्पुरुष हैं।

चित्ताल्हादि व्यसनविमुखं शोकतापापनोदि,
यज्ञोत्पादि श्रवण सुखदं न्यायमार्गानुयायि।
तथ्यं पथ्यं व्यपषातमदं सार्थकं मुक्तवादं,
यो निर्दोषं रचयति वचस्तं बुधाः सन्तमाहुः॥

जो पुरुष चित्त को प्रसन्न करने वाला, व्यसन से विमुख, शोक और ताप को शांत करने वाला, पूज्यभाव बढ़ाने वाला, कर्णसुखद, न्यायानुकूल, सत्य, हितकर, मानरहित, अर्थगर्भित, विवाद रहित और निर्दोष वचन बोलता है, उसे ही बुधजन संत कहते हैं।

प्रसन्नता से स्वामी जी की भिक्षा चालू थी। दादा साहब सत्संग से प्रभावित हो रहे थे। 'अपने प्रधान प्रश्न के लिए यही सुअवसर है'—ऐसा जानकर दादा साहब ने छेड़ दिया—'स्वामी जी ! क्या आपके भ्रमण में आपने ऐसे साधु को देखा-सुना है जो वेधदीक्षा का दाता हो ?' क्षणार्ध में स्वामी जी गम्भीर बने। प्रश्नकर्त्ता बड़ा जानकार है, उनका यह विचार सही निकला। मुख्य विषय की ओर बात का रुख हुआ।

'ज्ञान रतन की कोठरी चुप करि दीह्नों ताल।
पारखि आगे खोलिये कुञ्जा-वचन रसाल॥'

'हाँ, ऐसा है'—अपनी गर्दन हिलाकर स्वामी जी ने कहा। दादा साहब ने उत्सुकता से पूछा—'क्या ऐसे अधिकार-सम्पन्न महापुरुष का मुझे पता मिलेगा ? यदि आपकी कृपा हो............।' स्वामी जी ने प्रत्युत्तर दिया—'मैं संन्यासी हूँ, झूठ कह नहीं सकता और आपकी जिज्ञासा देखकर मौन भी नहीं रह सकता। इसमें निश्चित् भगवती की कोई इच्छा है। अस्तु, वैसी दीक्षा मैं स्वयं दे सकता हूँ।' दादा साहब अवाक् रह गये। स्वामी जी की भिक्षा सम्पन्न हुई। दादा साहब ने सपरिवार प्रणिपात किया। तदनन्तर स्वामी जी अपने निवास पर लौटे।

होशंगाबाद में श्री स्वामी जी द्वारा पहली दीक्षा श्री नारायणप्रसाद दुबे पर शक्तिपात का पहला प्रयोग

'स्वामी जी ने कह तो दिया, किन्तु वह सत्य है या नहीं, यह कैसे सिद्ध होगा ? अब तक ग्रन्थों में ये बातें पढ़ी जाती थीं, परन्तु आज तो ऐसे समर्थ महापुरुष का साक्षात् दर्शन हुआ। पानी भी छानकर पीना पड़ता है और यहां तो गुरु करना है। बिना जाने-परखे हीरे को हीरा कौन कहेगा ?' आदि अनेक विचार दादा साहब के मस्तिष्क में भ्रमण करने लगे।

दादा साहब के मन में एक तरङ्ग उठी। वे श्री नारायण-

प्रसाद जी दुबे से मिले। दुबे जी एक प्रतिभा-सम्पन्न वकील थे। भद्र पुरुष थे। चर्मरोग से त्रस्त थे। इस रोग के कई उपाय उन्होंने किये थे, किन्तु कोई लाभ न था। दादा साहब ने बात छेड़ी--

दुबे जी ! एक बात कहूँ ?

कहिए तो सही !

मंगलवार घाट पर एक युवा संन्यासी आये हुए हैं। यदि वे कृपा करें तो आप रोगमुक्त हो सकते हैं।

स्वामी जी से मैं क्या निवेदन करूँ ?

जो सत्य है, वह बता देना और प्रार्थना करना।

दुबे जी ने कई डॉक्टरों की दवाइयां, कई हकीमों के भस्म, क्वाथ, रसायन, कई फकीरों, साधुओं के मन्त्र, तन्त्र, जड़ी-बूटियां आजमाने में कसर नहीं रखी थी। इतने उपचार-प्रयत्न किये, एक और सही। स्वामी जी से मिलने के लिये तैयार हुए।

कोर्ट से लौटने पर सायंकाल दुबे जी अकेले ही मंगलवार घाट की ओर निकले।

स्वामी जी आसन पर आँखें मूँदे बैठे थे। सूक्ष्म घूर्णा होने से लगता था कि नींद की झपकियाँ ले रहे हों। उन्होंने आहट सुनकर आँखें खोलीं तो किसी अपरिचित को द्वार पर देखा।

खड़े-खड़े ही दुबे जी ने प्रणिपात किये। स्वामी जी ने भी अभिवादन स्वीकार किया और पूछा—'कौन हो? कैसे आना हुआ?' नारायणप्रसाद ने अपना परिचय तथा हेतु बतलाया और कृपा करने की याचना की। स्वामी जी ने कहा—'कल सुबह आना।'

'... पुरुषस्य भाग्यम् देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।' दुबे जी को क्या मालूम था कि अनन्त जन्म-राशि का क्षय-काल समीप आ रहा है। वे तो केवल रोग-निवृत्ति की चिन्ता में थे, किन्तु महापुरुष करुणा के सिन्धु होते हैं। उनकी कृपा का सामर्थ्य प्रचण्ड होता है। कोई नहीं कह सकता कि सत्पुरुषों की कृपा कहाँ और कब होती है? हम केवल अनुमान लगाते हैं कि अनेक जन्मों के पुण्य उदय होने से भगवद् कृपा होती है।

दूसरे दिन प्रातःकाल दुबे जी श्री स्वामी जी के पास पहुँचे। स्वामी जी ने उन्हें आसनस्थ होने का आदेश देकर कहा 'देखो नारायणप्रसाद! आँखें बन्द कर लेना। आराम से बैठना। शरीर को ढीला छोड़ना। जो कुछ भी होगा, उसे दबाना या रोकना नहीं, होने देना। भगवान की कृपा से तुम्हारा काम होगा। अनायास आँखें खुलने पर खोल देना, कोई चिन्ता न करना।'

दुबे जी बैठ गये। दिल में जोर-जोर से धड़कनें होने

लगीं। मनमें कई सवाल खड़े हुए। स्वामी जी क्या करते हैं, यह भी देखने की इच्छा हुई। पर आँखें मूँदने को कहा था। इस प्रकार एक-दो मिनिट बीते होंगे या नहीं कि उनका आसन पक्का होने लगा। पीठ की रीढ़ में चींटियाँ चलने जैसी हलचल शुरू हुई। आगे-पीछे डोलना शुरू हुआ। धड़कनें कम होते-होते बन्द हो गईं। प्रसन्नता से होंठ सट गये। मुख पर मुस्कान खेलने लगी। पूरा शरीर हल्का-सा लगने लगा। चित्त में शान्ति आने से वे उल्लसित हुए।

आधा-पौना घण्टा बैठक हुई। स्वाभाविक आँखें खुलीं। सामने स्वामी जी स्थिरचित्त बैठे थे। परस्पर आंखें मिलीं। स्वामी जी ने पूछा—'क्या कुछ अनुभव हुआ ?'

'हाँ, स्वामी जी ! हुआ तो जरूर, किन्तु कह नहीं सकता।'

बिल्कुल ठीक है। वर्णन नहीं किया जा सकता, परन्तु अनुभूति की जा सकती है। अच्छा, बहुत अच्छा। नारायण प्रसाद जी, यदि मेरे सन्मुख इसी प्रकार ७-८ दिन बैठोगे तो अधिकतम लाभ होगा।'

स्वामी जी के स्नेहार्द्र वचन सुनकर दुबे जी अपने को खो बैठे। मस्तिष्क में दिव्य भावमण्डल का निर्माण हुआ। आवेश में आकर आसन से उठे और श्री स्वामी जी के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणिपात किया। साश्रुनयनों से पाद-

पङ्कजों का अभिषेक किया—'क्षमा कीजिये भगवन्! क्षमा कीजिये !'—कहने लगे।

श्री सन्त तुलसीदास कहते हैं कि सन्त लोग आम्रवृक्ष की तरह होते हैं। उसके फल-फूल-पत्ते-शाखा-छाया सभी कुछ परार्थ होते हैं। उसमें और एक विशेषता होती है कि उस पर पत्थर मारने वालों को भी वह आम्रफल देता है।

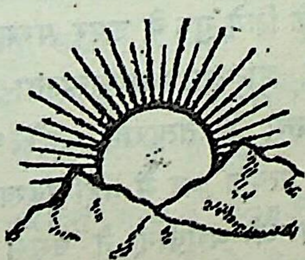
'स्वामी जी ! आप क्षमारूप हैं, अतः इतनी महत्कृपा की।'

पीठ पर थपकियां देते हुए स्वामी जी ने कहा—'उठो, भगवान् की कृपा हुई है।'

दुबे जी ने आंखें पोंछीं। बार-बार वन्दन करते हुए कोठरी से बाहर आये। मन में आ रहा था—

'साधु बड़े परमार्थी घन ज्यों बरसें आय।
तपन बुझावें और की आपने पारस लाय ॥'

[क्रमशः]



साधना का प्रभाव क्यों नहीं दीखता ?

—ब्रह्मलीन स्वामी श्री चिदानन्द जी सरस्वती—

यह प्रश्न तो ऐसे साधक के मन में ही उठता है जिस की साधना प्रदान करने वाले गुरु में श्रद्धा नहीं होती, आत्म-समर्पण करने जैसी श्रद्धा नहीं होती। जहाँ दृढ़ श्रद्धा है, वहाँ साधन खूब तत्परता से हुए बिना नहीं रहता। अतएव इस प्रकार के साधक को ऐसी खोज करने की फुरसत ही नहीं मिलती। इसलिये साधना में प्रथम आवश्यकता है दृढ़ श्रद्धा की। श्री भगवान् ने गीता ४।३६ में कहा है—

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

ज्ञान की प्राप्ति के लिये गुरु के ऊपर परम श्रद्धा अनिवार्य है। श्रद्धा न होने से ज्ञान-साधना तत्परता से नहीं होती और जब तक साधना में तत्परता नहीं आती, तब तक साधना में कोई फल प्रत्यक्ष रूप में नहीं दिखता। यह भाव सूचित करने के लिये श्री भगवान् ने उससे अगले श्लोक (४।४०) में कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मन: ॥

एक तो अज्ञानी है और दूसरे किसी के ऊपर श्रद्धा नहीं रखता, ऐसा मनुष्य सदा संशयग्रस्त रहेगा। स्वयं समझता नहीं और गुरुजन के ऊपर विश्वास रखता नहीं, ऐसे मनुष्य का संशय कैसे दूर होगा ? अतएव श्री भगवान् कहते हैं कि इस संशयग्रस्त साधक का यह लोक बिगड़ता है, इसमें उसे सुख नहीं मिलता; इसी प्रकार उसका परलोक भी बिगड़ जाता है।

यहाँ तक हमने यह देखा कि किसी भी साधना की सफलता के लिये साधना बताने वाले व्यक्ति के प्रति परम श्रद्धा होना अनिवार्य है। किसी भी साधना में सिद्धि के लिये 'अभ्यास-वैराग्य' के प्रसङ्ग में अभ्यास का स्वरूप बतलाते हुए पातञ्जल योग-दर्शन में लिखा है--

(१) दीर्घकाल--साधना दीर्घकाल पर्यन्त अडिग श्रद्धा से करनी चाहिये। दीर्घकाल का अर्थ यहाँ दो वर्ष, चार वर्ष, दस वर्ष आदि सीमित समय के अर्थ में नहीं है, बल्कि इसका अर्थ है---सिद्धि प्राप्त होने तक। इसलिए सिद्धि प्राप्त होने तक अडिग धैर्य से साधना करते रहना चाहिये।

(२) नैरन्तर्येण--अर्थात् साधना नित्य-निरन्तर करनी चाहिये। चार दिन मुस्तैदी से कर के दो दिन छोड़ दे तो

ऐसा करने से साधना सफल न होगी। इसके लिये नित्य और निरन्तर अर्थात् बीच में नागा किये बिना साधना करते रहना चाहिये।

(३) सत्कारासेविता—दूसरी जगह कहीं ध्यान न देकर केवल साधना में ही चित्त को एकाग्र रखना चाहिये। यदि साधना में आदर बुद्धि, भाव और प्रेम न हो तो उसमें एकाग्रता नहीं होती; इसलिये जो कुछ भी करे, वह आदर बुद्धि, भाव और प्रेम से करे। इस प्रकार जो साधना होती है वह सफल हुए बिना नहीं रहती।

अब दीर्घकाल पर्यन्त मनुष्य साधना नहीं कर सकता। इसका कारण या तो श्रद्धा की कमी है या पुरुषार्थ हो नहीं पाता। चार-छः महीने साधना करे और फिर विचार करे कि हम छः महीने से साधना करते आ रहे हैं, परन्तु फल तो कुछ नहीं दीखता, तो यह ठीक नहीं। यह समझने के लिये एक दृष्टान्त लें। योगवासिष्ठ में लिखा है—

कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा।
एवमात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते॥

जैसे बीज बोने के बाद अंकुर निकलने में देर लगती है और माता के उदर में गर्भ के परिपक्व होने में समय लगता है, उसी प्रकार साधना के परिपक्व होने में समय अवश्य ही लगेगा। थोड़ा समय लगता है या अधिक, इसका आधार

साधक के काषाय के ऊपर है। जिस साधक का काषया

अल्प प्रमाण में और अच्छा होता है, उसे थोड़े समय में सिद्धि मिल जाती है। जिसका काषाय बड़े प्रमाण में और घटिया होता है, उसे बहुत देर लगती है। भले ही एक ही गुरु के दो शिष्य हों और उनके पास साधना करते हों, तथापि ऊपर लिखे कारणों से एक को जल्दी सफलता मिलती है और दूसरे को देर से।

एक मूंग का दाना बोइये तो तीसरे ही दिन अंकुर आ जायगा; परन्तु कोई कठिन दाना, जैसे बेर का बीज अथवा वेल बो दें, तो उसके अंकुर निकलने में ६-७ महीने लग जाएँगे। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के बीज के अंकुर निकलने में अलग-अलग समय लगता है। इसी प्रकार साधना के सफल होने में भी समय लगता है।

इसी प्रकार माता के उदर में गर्भ के परिपक्व होने में भी कुछ समय अपेक्षित होता है। छोटे जीवों को थोड़ा समय लगता और बड़े प्राणी को विशेष। मानव-गर्भ के परिपक्व होने में २७० दिन लगते हैं। अब यदि परदेश गया हुआ पति पाँच महीना बीतने के बाद ही हर महीने पूछने लगे कि पत्नी को क्या बालक हुआ, तो यह प्रश्न जिस प्रकार हास्यास्पद जान पड़ेगा, उसी प्रकार साधना के परिपक्व होने के समय से पहले ही यदि मन में विचार आवे

कि साधना का फल क्यों नहीं दीखता, तो यह भी उसी प्रकार हास्यास्पद होगा।

पूर्ण धैर्यपूर्वक साधक को जब तक सिद्धि प्राप्त न हो जाय, तब तक दृढ़ श्रद्धा के साथ साधना करते रहना चाहिये। यदि बीच में धैर्य टूटने लगा तो सब किया-कराया व्यर्थ जायगा।

श्रद्धा की कमी का दूसरा दुष्परिणाम यह होता है कि एक के बाद दूसरी साधना बदलती रहती है और अन्त में किसी में भी निष्ठा नहीं रहती। मन का स्वभाव ही ऐसा है कि यह प्राप्त का आदर नहीं करता; प्राप्त में दोष देखता और उससे घबराकर अप्राप्त की खोज में दौड़ा करता है। मन हठीले स्वभाव के कारण अनादिकाल से जन्म-मरण का दुःख भोगता आ रहा है और जब तक अपना हठीलापन नहीं छोड़ता, तब तक जन्म-मरण के दुःख से छुटकारा नहीं है। परिश्रम से यदि वह 'यदृच्छालाभसंतुष्टः' का पाठ पढ़ ले तो भव-बन्धन से उसकी मुक्ति हो जाय।

एक आदमी एक साधना में लगता है। चार-छः महीने या वर्ष-दो वर्ष उसमें ठीक मन लगता है। पश्चात् अकुलाने लगता है और उसमें दोष-दृष्टि करके दूसरी अधिक सरल साधना की खोज में लग जाता है। नये साधन में उसे गुण-हीगुण दीखता है। अतएव उसे ग्रहण कर लेता है। पश्चात्

उसमें चार-छः महीने या वर्ष-दो वर्ष रमण करता है और फिर अकुलाकर उसे भी छोड़ देता है। इस प्रकार एक के बाद दूसरी साधना छूटती जाती है और जीवन व्यर्थ ही कट जाता है।

कोई साधना केवल गुणप्रद या केवल दोषप्रद नहीं होती। इस संसार की रचना ही द्वन्द्वात्मक है। अतएव गुण के साथ दोष, सुविधा के साथ असुविधा, अनुकूलता के साथ प्रतिकूलता रहती ही है। दोष, असुविधा और प्रतिकूलता पर ध्यान न देकर एक ही साधना में मनुष्य लगा रहे, तभी सिद्धि प्राप्त हो सकती है; अथवा तब होती है जब उसमें अविचल श्रद्धा होती है। इस प्रसङ्ग की चर्चा भगवान् ने स्वधर्म पालन के सम्बन्ध में की है। वह देखने योग्य है। श्री भगवान् (गीता ३।३५) कहते हैं—

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।'

अब यहां धर्म के स्थान में साधना शब्द रख दीजिये तो कुछ भी हर्ज न होगा। तब इसका अर्थ यह होगा कि अपनी साधना, भले ही दूसरी साधना की अपेक्षा कम आकर्षक अथवा अधिक श्रमसाध्य जान पड़े, तो भी उसमें लगे रहने में ही साधक का कल्याण है। मन दूसरे की साधना देखकर अवश्य कहेगा कि वह साधना सहजसाध्य है; परंतु उसके भुलावे में पड़ना नहीं चाहिये और अपनी ही साधना में लगे रहना चाहिये। भगवान् तो यहां तक कहते हैं—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।'

(गीता ३ । ३५)

अपनी साधना करते-करते यदि साधक की आयु पूरी हो जाय, तो भी उससे साधक का कल्याण ही है; परंतु एक साधना को छोड़ कर दूसरी ग्रहण करने में हानि है। यह बात एक दृष्टान्त द्वारा समझिये। मान लीजिये कि एक आदमी के पास सात मोटरें हैं। प्रत्येक में एक प्रकार की सुविधा है तो दूसरे प्रकार की असुविधा है। इसी प्रकार सातों में पृथक्-पृथक् विशेषताएँ हैं। वह मनुष्य यदि असुविधा पर ध्यान न देकर सुविधा को देखकर किसी मोटर में जाय तो अवश्य गन्तव्य स्थान में पहुंच जायेगा। परंतु यदि असुविधा को देखेगा और किसी मोटर में एक-आध मील जाकर असुविधा से घबराकर पीछे लौटेगा और इसी प्रकार दूसरी मोटरों में लौट-फेर करता रहेगा तो कभी गन्तव्य स्थान में नहीं पहुँच सकेगा। कोल्हू के बैल के समान दिन भर चलता रहेगा तो भी शाम होने पर जहां-का-तहां ही रह जायगा।

यही बात साधना की है। निष्ठा एक ही साधना में होती है। जैसे पतिव्रता का पति एक ही होता है, उसी प्रकार साधक की साधना एक ही होती है, गुरु एक ही होता है, उसी प्रकार मन्त्र भी एक ही होता है। इस में यदि बार-बार अदल-बदल किया करे तो मनुष्य को कभी भी साधना में सिद्धि मिलने वाली नहीं है।

साधना के दो प्रकार हैं—एक निर्गुण-निराकार और दूसरा सगुण-साकार। सगुण-साकार में मनुष्य राम-कृष्णादि की उपासना करता है। श्रीराम की उपासना करनेवाले को कोई भ्रम में डाल दे और कहे कि तुम इस उपासना को छोड़ दो; क्योंकि श्री कृष्ण की उपासना में सिद्धि शीघ्र मिलती है। आगे चल कर वह साधक कृष्ण की उपासना को छोड़ देता है और गणपति को ले लेता है; फिर गणपति को छोड़कर शीघ्र फल की प्राप्ति के लिये हनुमान की उपासना करता है। इस प्रकार यदि एक बार साधना बदली तो फिर उसका कोई अन्त नहीं होता। अमेरिका के एक तलाक का किस्सा यहां अप्रासंङ्गिक न होगा। एक स्त्री ने जब पहली बार तलाक दिया तो उसने बहुत ही विचार किया और फिर तलाक दे दिया। दूसरा घर करने के साथ-साथ वर्तमान पति से और अच्छा पति कहां मिलेगा, वह इसकी खोज करने लगी। मन का ऐसा स्वभाव है कि वह प्राप्त वस्तु का आदर नहीं करता, इतना ही नहीं, बल्कि उसमें दोष देखने लगता है और अप्राप्त वस्तु के काल्पनिक गुण की ओर ही दृष्टि डाल कर उस पर आकर्षित होता है। इस प्रकार ४५ वर्ष की उम्र होते-होते उसने १९ बार तलाक दिया। अन्तमें न्यायाधीश ने कहा कि—'मैं आशा करता हूं कि यह अन्तिम तलाक होगा।'

यही बात साधना की है। एक साधना छोड़कर दूसरी करने से, फिर अनेक प्रकार की साधनाओं की खोज में मन

दौड़ता है और एक साधना के बाद दूसरी साधना बदलती जाती है एवं किसी भी साधना में स्थिरता न होने के कारण खाली हाथ मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है। इसी कारण श्रुति भगवती साधक का अधिकार बतलाते हुए कहती हैं कि—

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।'

अर्थात् जिस साधक को ईश्वर में पूर्ण अनुराग होता है और जैसी भक्ति ईश्वर में होती है, वैसी ही गुरु में होती है, उस साधक को कभी साधना बदलनी नहीं चाहिये। उसके लिये कहा—

'वस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।'

अर्थात् जिस मनुष्य में अटूट श्रद्धा है और गुरु में ईश्वर-भाव है, उसको जो साधना बतलाई जाती है, वह सिद्ध हुए बिना नहीं रहती।

प्रत्येक साधना में सिद्धिपर्यन्त धैर्य रखने की तथा विश्वास न छोड़ने की अनिवार्य आवश्यकता है। मनुष्य अपनी मान्यताओं के वश होकर जो कुछ पढ़ता या मित्र-मण्डली में सुनता है, उसको अनुभव में लाने की आशा करता है और वैसा अनुभव न होने पर साधना पर से विश्वास ही गँवा बैठता है। कोई कहता है कि 'मुझे तो घण्टा-जैसी ध्वनि सुनायी पड़ती है।' कोई कहता है कि 'मुझे तो मधुर वंशी-ध्वनि सुन पड़ती है।' किसी को प्रणव का दर्शन होता

है, किसी को प्रकाश का दर्शन होता है और वह भी लाल,

नीले और उजले प्रकाश का। किसी को राम-कृष्ण आदि देवताओं का तथा अम्बिका, बहुचरा आदि देवियों का दर्शन होता है। किसी को गणपति का, तो किसी को हनुमानजी का दर्शन होता है। इस प्रकार की बहुत-सी बातें मनुष्य के पढ़ने और सुनने में आती हैं। भगवान् ही विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। मन जिस भावना के ऊपर केन्द्रित होता है, उसी भावना के अनुसार उसे दीखता है। परंतु वैसा ही दर्शन दूसरे को हो, यह आवश्यक नहीं है। इसलिये साधक को ऐसी मान्यता में नहीं फंसना चाहिये, उसे अपनी साधना में अडिग धैर्य से अग्रसर होना चाहिये। गुरु वसिष्ठ कहते हैं—

'साधनं सफलं तस्य विज्ञेयं यस्य सन्गतेः।
दिनानुदिनमायाति तानवं भोगगृध्नुता॥'

यहां मूल में 'विचार' शब्द है। परन्तु विचार एक साधन मात्र है। इसीलिए 'विचार' के लिये 'साधन' शब्द का प्रयोग किया है जो गलत नहीं कहा जा सकता। वसिष्ठ ऋषि के कहने का तात्पर्य यही है कि साधन सफलता पूर्वक ठीक तौर पर हो रहा है, यह तभी समझो जब साधक के मन की भोग-लोलुपता दिन-प्रति-दिन शान्त होती जाय। जिस साधक की इच्छा हो, वह आत्मनिरीक्षण करके देख ले कि उसकी साधना ठीक चल रही है या नहीं।

साधना में श्रद्धा के बाद दूसरी आवश्यकता अडिग धैर्य की है। जब तक सिद्धि प्राप्त नहीं हो जाती, धैर्यपूर्वक अपनी साधना में लगे रहना चाहिये। इसको समझने के लिये एक विस्तृत दृष्टान्त लीजिये। एक अच्छे तराजू को डोरी से ठीक बांधकर इस प्रकार टाँग दो कि जमीन से वह कुछ ऊपर रहे। एक पलड़े में चालीस तोले के वजन का बाट रख दो। अब इसी भार के चने दूसरे पलड़े पर रखने हैं। प्रतिदिन एक-एक चना रक्खें तो ३ चने का एक वाल होता है और ३२ वाल का एक तोला होता है। इस हिसाब से एक तोले में ९६ चने आयेंगे और ४० तोला बराबर होगा ३८४० चने के। अब ३६० दिन का एक वर्ष होता है तो १० वर्ष में ३६०० दिन होंगे। बाकी बचे २४० चने। उसके तीस दिन के एक मास के हिसाब से ८ महीने होते हैं। अर्थात् रोज एक चना रखने से पलड़े पर उस बाट के बराबर के वजन के चने १० वर्ष ८ महीने में पूरे होंगे और तब दोनों पलड़े सम रेखा में आ जायेंगे। दूसरे दिन एक चना और रखने से चने वाला पलड़ा नीचे झुक जायगा और बाट वाला पलड़ा ऊपर उठ जायेगा।

इसी प्रकार यदि हम प्रतिदिन लगातार साधना करते जायें और वह भाव से तथा प्रेम-पूर्वक हो तो धीरे-धीरे पुराने संस्कार धुलते जायेंगे और नये संस्कार पड़ते जायेंगे। यह काम चनों के समान बहुत धीरे-धीरे होना चाहिये।

उसमें कितनी प्रगति हो रही है, यह जानने का कोई साधन नहीं है। इसीके कारण साधक घबरा जाता है और अधिक-से-अधिक चार-पाँच वर्ष साधन करके फिर उसे छोड़ देता है। ऊपर के दृष्टान्त में हमने स्पष्ट देखा है कि जो कार्य धीमी गति से होता है, वह पूरा हो तभी उसकी सिद्धि देखने में आती है।

ठीक यही बात साधना में भी समझनी चाहिये। चित्त का संस्कार अवश्य धुलता है, नया शुभ संस्कार पड़ता जाता है। परन्तु जब तक सारे संस्कार धुल न जायें और उनके स्थान में शुभ संस्कार दृढ़ न हो जायें, तब तक कोई परिणाम देखने में नहीं आता। चने के दृष्टान्त में जैसे ३८४०वें दिन एक चना रखते ही दोनों पलड़े बराबर हो जाते हैं और दूसरे दिन एक ही चना रखने पर चने वाला पलड़ा नीचे झुक जाता है, उसी प्रकार साधना का क्रम पूरा होने पर जब शुभ संस्कार का उदय होता है, तभी उसका अनुभव होता है; और तब साधक के आनन्द का पार नहीं रहता। उस आनन्द का वाणी द्वारा वर्णन नहीं हो सकता। चना रखने वाले को ३८४०वें दिन तथा उसके दूसरे दिन जो आनन्द होता है, उससे भी अधिक आनन्द साधना पूरी होने पर साधक को होता है।

जिस साधक में असीम धैर्य तथा उत्साह है, वही साधक सिद्धि प्राप्त करता है। जो धैर्य छोड़ बैठता है और जिसका

उत्साह जाता रहता है, वह साधक साधना बीच में ही छोड़ देता है। चने के दृष्टान्त के समान कोई १००० दिन साधना करता है और उत्साह मन्द होने पर छोड़ देता है। अधिक धैर्यवान् साधक २००० दिन साधना करता है और धैर्य में कमी आने पर उसे छोड़ देता है, कोई ३००० दिन तक साधना करता है और फल समीप आता हुआ भी न दीखने से साधना छोड़ देता है और सिद्धि से वञ्चित रह जाता है। कोई ३८०० दिन तक साधना करता है और धैर्य में कमी आने के कारण उत्साह मन्द होने पर उसे छोड़ देता है।

यह तो एक दृष्टान्त मात्र है। यह इस बात को समझाने के लिये है कि साधना में अडिग श्रद्धा और अटूट धैर्य होना चाहिये। वस्तुतः साधना की सिद्धि के लिये समय की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती; क्योंकि इसका आधार अन्तः-करण के दोषों की निवृत्ति के ऊपर है। दोष अधिक हों तो अधिक समय लगेगा और कम हों तो कम समय लगेगा। ध्रुव जी को छः महीने में ही भगवान् का दर्शन हो गया था। खट्वाङ्ग राजा को क्षण भर में ज्ञान होकर मुक्ति मिल गई। विद्यारण्य मुनि ने गायत्री के २३ पुरश्चरण किये, परन्तु कोई सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकी। किन्तु लाभ यह हुआ कि उनको उत्कट वैराग्य हो गया और उन्होंने संन्यास ले लिया। संन्यास लेने के बाद गायत्री देवी उनके ऊपर प्रसन्न हुईं और प्रकट होकर वर माँगने के लिये कहा। विद्यारण्य मुनि

बोले—'माता जी! अब तो मैं संन्यासी हूँ और मुझे कोई कामना नहीं है; परन्तु आपने पहले दर्शन क्यों नहीं दिये ? यह मेरी समझ में नहीं आता।' तब गायत्री देवी ने कहा—'तुम्हारे २४ महापातक थे। २३ पुरश्चरण से २३ पाप धुल गये। यदि एक और पुरश्चरण किया होता तो तुमको मेरा दर्शन हो जाता। किन्तु तुमने वैसा न करके संन्यास ले लिया और संन्यास की दीक्षा मात्र से तुम्हारा २४वाँ पाप भी दग्ध हो गया। इस कारण मैं आज तुम्हारे समक्ष प्रकट हो गई हूँ।'

विद्यारण्य मुनि ने जैसे धैर्य गँवाकर साधना छोड़ दी थी, उसी प्रकार आज-कल बहुत लोग एक निश्चित् समय तक कोई फल प्राप्त होते न देखकर साधना छोड़ देते हैं। प्रथम आवश्यकता तो अविचल श्रद्धा की है। ऐसी श्रद्धा हो तो धैर्य टिके और तभी उत्साह से साधना हो सके।

साधना छूटती है अपने दोष के कारण और साधक समझता है कि यह साधना ही ठीक नहीं है अथवा गलत है। ऐसी अधकचरी साधना करने वाले मनुष्य ही शास्त्र की निन्दा करते हैं और लोगों में कहते फिरते हैं कि साधना और सिद्धि की बात केवल मनुष्य को बहकाने के लिये है और ऐसा मनुष्य यदि विद्वान् होता है तो अपनी आकर्षक शैली में इस विषय पर पुस्तकें लिख डालता है।

साक्षरा विपरीताश्चेद् राक्षसा एव केवलम्।

समाज में अधिकांश लोग तो शास्त्र से परिचित नहीं

होते। इस कारण इस प्रकार के लेखों से वे प्रभावित हो जाते हैं और नास्तिक बन जाते हैं। वे अपनी पुस्तक में यह भी निरूपण करते हैं कि आत्मसाक्षात्कार जैसी कोई बात होती ही नहीं, यह तो अपने आपको धोखा देने की बात है। अंग्रेजी में इसको वे लोग *Auto-Hypnotism* कहते हैं।

अडिग धैर्यवान् साधक सिद्धि प्राप्त होने तक लगा रहता है और ३८४० दिन तक एक-एक चना पलड़े पर रखता जाता है। वहाँ जैसे दोनों पलड़े सम तोलमें आ जाते हैं, उसी प्रकार साधक को भी अन्तिम ४० दिन जितने कम समय में ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

धैर्यविहीन साधक साधन छोड़ते समय अपने मन को समझाता है कि इतने लम्बे समय तक भाव से साधना करने पर भी फल कुछ न मिला। कोई प्रतिबन्ध बाधक हुआ होगा। प्रतिबन्ध तीन प्रकार के हैं—(१) भूत, (२) वर्तमान और (३) भावी।

भूत प्रतिबन्ध—भूतकाल में अनुभूत पदार्थ तथा स्त्री-पुत्र आदि एवं घर-बार आदि का साधना के समय स्मरण होना—इसको 'भूत-प्रतिबन्ध' कहते हैं। इसकी निवृत्ति अपने पुरुषार्थ से ही होती है। इसका उपाय भगवान् ने गीता के अध्याय ६ श्लोक ३६ में बताया है। मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ से उसको हटावे और साधना में लगावे। इसके

सिवा भूत प्रतिबन्ध के मिटाने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

वर्तमान प्रतिबन्ध—मुख्यतः चार प्रकार का होता है। (१) कुतर्क, (२) दुराग्रह, (३) मन्द बुद्धि और (४) विषयासक्ति। इन में कुतर्क और दुराग्रह केवल पुरुषार्थ से दूर हो सकते हैं और मन्दबुद्धि तथा विषयासक्ति गुरु की कृपा से दूर होती है। इसमें भी पुरुषार्थ को आवश्यकता तो पड़ती ही है, पर मुख्यता गुरु-कृपा की होती है।

भावी प्रतिबन्ध—यह प्रारब्ध का ही एक भाग है। कभी-कभी एक ही कर्म ऐसा होता है कि उसका फल दो-तीन जन्मों में जाकर भोगना पड़ता है। परन्तु इस भावी प्रतिबन्ध की कथायें बहुत देखने में नहीं आतीं। मेरी जानकारी में अब तक जड़भरत और वामदेव की कथा के सिवा दूसरी कोई नहीं आई है।

इस प्रतिबन्ध की व्यवस्था साधक के लिये जानना जरूरी नहीं है। यह तो गुरु के ऊपर है। वही प्रतिबन्ध के स्वरूप को समझ कर उसकी निवृत्ति का उपाय बतला सकते हैं।

एक साधक था। वह जब साधना करने बैठता, तभी 'किं जातम्' यह प्रश्न खड़ा हो जाता। कुछ दिन तो उसने धैर्य रक्खा, परन्तु बारम्बार इस प्रश्न को उठते देखकर उसने इस विषय में गुरु से निवेदन किया। गुरु ने तुरन्त अपनी अटकल लगाई और शिष्य से पूछा कि 'तुम जब घर

से निकले, उस समय घर के लोगों की क्या स्थिति थी ?' सब की स्थिति का वर्णन करते हुए उसने बतलाया कि जब वह घर से निकला, उस समय उसकी स्त्री गर्भवती थी, बच्चा होने वाला था और उसके क्या बालक पैदा होता है ? यह जानने के लिये उसका मन केन्द्रित हो गया था। इसी कारण उसके मन में यह बार-बार प्रश्न उठा करता था। गुरु ने तुरन्त ही शिष्य को आज्ञा दी कि घर जाकर पता लगा आओ कि स्त्री को क्या बालक हुआ है। ऐसा करने पर उसका 'किं जातम्' का प्रश्न शान्त हो गया। इस प्रकार प्रतिबन्ध का सिद्धान्त गुरु के लिये उपयोगी है। साधक को इसका उपयोग नहीं करना चाहिये।

इस निबन्ध में हमने देख लिया कि साधन में श्रद्धा की प्रथम आवश्यकता है। उसके साथ-साथ असीम धैर्य और पूर्ण उत्साह भी होना चाहिये। इन तीनों में एक की भी कमी होने से साधना पूर्ण नहीं होती। अतएव जो साधक अपनी साधना को पूर्ण करना चाहता है, उसे गुरु में अविचल श्रद्धा रखनी चाहिये तथा धैर्य और उत्साह अन्त तक बनाये रखना चाहिये। इसके सिवाय सिद्धि के लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

गुरूपासना

—महामहोपाध्याय विद्यावाचस्पति श्रद्धेय पं० श्री प्रभुदत्त शास्त्री—

य आतृणत्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत् पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्च नाह ।।

निरुक्तकार श्री यास्काचार्य ने इस मन्त्र को उद्धृत करते हुए गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को प्रशस्त किया है—

'जो सत्य नामक कुरेदनी, चिमटी आदि से कानों को पहले 'आतृणति' कुरेदता है, खोलता है—'तृहि हिंसायाम्' और फिर उनमें अमृत भरता है अर्थात् पहिले से भरी गलत-सलत बातों को खोदकर निकालना और फिर 'अमृत' उत्तमोत्तम बातें भरना—ये दो कार्य करने वाला गुरु होता है। साथ-ही-साथ यह भी कहा गया है कि—'अदुःखं कुर्वन्' बिना किसी दुःख के पहुंचाये अर्थात् कानों को दुःख न दे। ऐसे गुरु को माता-पिता के समान समझे, उससे कभी कोई द्रोह न करे।' वहीं आगे लिखा है —

अध्यापिता ये गुरून्नाद्रियन्ते मनसा वाचा कर्मणा मौनतश्च ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ।।

‘जो पढ़ायें-समझायें शिष्य गुरु का मन, वाणी, काम और चुप्पी से अनादर करते हैं, वे जैसे गुरु के अभोज्य (अरक्षणीय) हैं, वैसे ही शास्त्र भी उनका भोग (संरक्षण) नहीं करता।’

अतः गुरु नामक तत्त्व में भी परमात्म-शक्ति झलककर शिष्य का पथ-प्रदर्शन करती है। अतः गुरु की उपासना परमात्मोपासना से कम नहीं। तभी तो यह कहा है

अधिगच्छति शास्त्रार्थः स्मरति श्रद्दधाति च।
यत्कृपावशतस्तस्मै नमोऽस्तु गुरवे सदा॥

‘शास्त्र का अर्थ अपने आप आता है। हम उसे क्या याद करें ? वही हमें याद करता है। हम उसमें श्रद्धा क्या करें ? वही हम में श्रद्धा करता है। जिनकी कृपा से यह सम्भव होता है, उन गुरुदेव को सदा नमस्कार है।’ सोचिये, है कोई परमात्म-कृपा और गुरु-कृपा में अन्तर ?

जैसे परमात्मा की प्राप्ति अनेक जन्मार्जित पुण्य से होती है, वैसे ही गुरु की प्राप्ति भी भाग्य से ही होती है। गुरु को ढूँढ़ते समय गुरु की इन विशेषताओं को अवश्य ध्यान में रखना चाहिये – ‘गुरु शान्त, दान्त, तपोनिष्ठ, दयालु और शब्द ब्रह्म में निष्णात हों।’ क्योंकि शब्दों के द्वारा ही गुरु हम में ज्ञान-धन को भर सकेंगे। गुरु के मानसिक संकल्प से भी शिष्यों के उद्धार की बातें ‘शंकर-दिग्विजय’ आदि ग्रन्थों में आई हैं।

जैसे —

चित्रं वटतरोमूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु च्छिन्नसंशया॥

वृद्ध शिष्यों की पंक्ति में युवा गुरु चुपचाप बैठे थे, किन्तु फिर भी शिष्यों की शङ्कायें मिटती जा रही थीं। किन्तु इतनी भक्ति और ऐसे गुरु— आज कल दोनों दुर्लभ हैं। अब तो शब्दों के द्वारा ज्ञान देने वाले गुरु का मिलना ही बड़ा सौभाग्य माना जा सकता।

दो गुरु-शिष्यों का अद्भुत प्रेम

मीमांसा-शास्त्र में दो सिद्धान्तों का नाम लिया जाता है— 'इति गुरुवः', 'इति प्राभाकराः'—यह गुरु कहते हैं, यह प्रभाकर वाले कहते हैं। यहां ये प्रभाकर और गुरु दोनों परस्पर में गुरु-शिष्य ही थे। गुरु का शिष्य पर अपार स्नेह था। गुरु की कृपा रूपी चांदनी के संयोग से शिष्य का ज्ञान समुद्र उछला जा रहा था, किन्तु चांद को जैसे यह पता नहीं होता कि मेरे प्रकाश के स्पर्श से यह समुद्र उत्तुङ्ग हो रहा है, ऐसे ही गुरु भी नहीं जानते थे कि मेरी ही कृपा मेरे काबू से बाहर हो गई है। अतः उन दोनों में जब कोई शास्त्र-विचार चलता तो शिष्य के विचार कहीं ऊँचे होते और शिष्य के किये हुए प्रश्नों के उत्तर देने में गुरु समय मांगते—'अच्छा, फिर कभी', कह कर शास्त्रार्थ को अपनी हार-सी मानते हुए समाप्त करते थे।

शिष्य भी खिसिआईसा हुआ सा चला जाता। जब यह काण्ड बहुत दिनों तक चलता रहा तब गुरु-पत्नी को असह्य हो गया। उसने गुरु से कहा—'मुझे तो बड़ी शर्म आती है, जब आप प्रति-दिन शिष्य से हार जाते हैं। आपके पास इतनी ही विद्या थी, जो इस शिष्य ने सभी ले ली और उसे बढ़ा भी लिया ?' तब गुरु हँसे और अपनी पत्नी से बोले—'यह शिष्य मेरा परम भक्त है, जैसे अपने बालक से हारने में सुख होता है, वैसे ही मुझे इससे हारने में होता है।'

गुरु-पत्नी ने कहा—'यह तो आपने अपनी पराजय को छिपाने का मार्ग निकाला है। मैं तो प्रत्यक्ष देखती हूँ कि वह आपको अपने तर्कों से निरुत्तर कर देता है।' तब गुरु ने कहा—'अच्छा देखो, हमें श्वास खींचकर मुर्दा बनना आता है, तो हम आज मुर्दा बन जाते हैं। हमारे ऊपर तुम कपड़ा डाल देना और जब शिष्य आये तो तुम रोने लग जाना कि आज तो तुम्हारे गुरु जी मर गये। फिर तुम देखना कि हम से उसका प्रेम कितना और कैसा है ?'

उसने वैसा ही किया और जब शिष्य आया तो उसने गुरु-पत्नी को छाती कूट-कूट कर रोते देखा तो पूछा, और उसने बताया, तब तो वह गुरु-पत्नी से अधिक रोने लगा तथा माथे को दोनों हाथों से पीटने लगा। गुरु-पत्नी ने कहा—'भैया ! जो हुआ सो हुआ; परन्तु तू इतना क्यों रो रहा है ? उनकी विद्या तो तूने सीख ली है। अब तुझे उनसे

क्या लेना शेष है ?' तब शिष्य बोला—'माता जी ! आप भोली हैं. गुरु जी की विद्या का तो आर-पार-थाह नहीं। वे तो मुझे अखाड़े के पहलवान की तरह खिलाने में रस लेते थे। यह उनकी अहैतुकी कृपा थी।' तब गुरु जी हंसते हुए उठे और बोले—'जितं मया', 'जितं मया'—मैं जीता, मैं जीता।' तब सारे विषय को समझकर शिष्य बोला कि—'मृत्वा जितं तदा किं जितम् ?'—'वाह महाराज ! मरकर जीते तो क्या जीते ? जीवित अवस्था में जीतते तो जीतना मानता। यह भी कोई जीतना है ?' गुरु-शिष्य में कितना प्रेम था ! इतनी प्रीति बिना हुए शास्त्र अपने आप नहीं आता। अतः ज्ञानके निधान, भक्ति के भूधर, विवेक के भास्कर गुरु की प्राप्ति और उनसे ऐसी प्रीति का होना भी पुण्यों का फल होता है।

यास्काचार्य ने स्वयं भी निरुक्त के लिखते समय कहा है—'स न मन्येत यदुत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेतेति।'

वैश्वानर नाम सूर्य, बिजली और पृथ्वीगत अग्नि—तीनों का है; किन्तु वह शिष्य तो यह नहीं मानेगा कि सूर्य और बिजली भी वैश्वानर कहाते हैं। अतः विस्तार से विचार करते हैं। इसी तरह 'स न मन्येत' अनेक स्थानों पर कह कर शिष्य की अनुपस्थिति में भी शिष्य का ध्यान करना यह महान्-से-महान् गुरु का कार्य है।

'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' की टीका केवल एक ही शिष्य

के लिये लिखी गई थी 'नमु राजीवदयावशंवदः' यह मैं राजीव नामक शिष्य पर दया करने के लिए लिख रहा हूँ। वे गुरु जो अपने साथ-ही-साथ अपने शिष्य के नाम का विस्तार भी करते थे, ऐसे गुरु की उपासना में नियोगानुयोगादि नहीं होने चाहिये। 'नियोग' आज्ञा करना और 'अनुयोग' प्रश्न करना आदि। 'नियोगं चानुयोगं च गुरौ शिष्यो विवर्जयेत् ।'—शिष्य गुरु पर न हुकुम चलाये, न जवाब माँगे कि यह आपने क्यों नहीं किया ? और न किया तो कब करोगे ? इत्यादि।

इस पर मैं अपनी आप बीती कहानी सुनाना भी उचित समझता हूं। राजस्थान के मंडवा नामक नगर में मैंने श्री पं० विलासराय जी और मोहनलाल जी शुक्ल से विद्यारम्भ किया, जिनके पुत्र श्री विद्याधर जी शुक्ल आज भी गोरखपुर में आयुर्वेद के द्वारा जनता की सेवा करते हैं। वे पूर्वोक्त गुणों से युक्त थे। जब हम लोग उनके पास पढ़ने जाते और कहते कि—'महाराज ! पढ़ाओ', तब वे हंसते हुए कहते—'नियोग यानी आज्ञा करते हो ?' जब हम कहते कि—'महाराज ! पढ़ाओगे ?' तो कहते कि—'अनुयोग यानी प्रश्न करते हो ?'

कभी हम सोचकर कहते कि 'महाराज ! कब पढ़ाओगे ?' तो कहते कि 'संदेह करते हो', इत्यादि मधुरालापों के साथ वरदान-वृत्ति भरकर अध्यापन आरम्भ करते थे।

अत्यन्त सौम्यवृत्ति के दो विद्वान गुरुओं के अपने शिष्यों के साथ खेल—

एक बार एक अद्वैत-सम्प्रदाय के गुरु किसी भक्त के घर भिक्षा करने पहुंचे। भक्त ने भिक्षा कराने के बाद कहा कि 'महाराज! कोई मन्त्र बता जाओ, जिसे जप कर मैं अपना कल्याण कर सकूं।' तो उन्होंने कहा 'सोऽहं, सोऽहं' जपा करो!' वह जपता रहा तो फिर कोई भक्ति सम्प्रदाय के महात्मा भी उसके घर आये। उन्होंने भिक्षा के बाद पूछा कि 'कुछ भगवन्नाम जपते हो?' तो उसने कहा 'महाराज! 'सोऽहं, सोऽहं' जपता हूँ।' तो वे हँसे और बोले कि 'इसके पहिले 'दा' और लगा दिया करो।' उसने 'दा' और लगाकर 'दासोऽहं, दासोऽहं' जपना शुरू कर दिया, जो भक्ति-भाव का वर्धक है। कुछ दिनों बाद फिर वही महात्मा आ गये। उन्होंने पूछा 'जप चलता है?' तो उसने कहा 'हाँ, एक और महात्मा आये थे। उन्होंने उसमें 'दा' और जुड़वा दिया है, तब से मैं 'दासोऽहं, दासोऽहं' जपता हूँ।'

तो उन्होंने हँसकर कहा कि 'तो उसके पहिले 'स' और मिला लिया करो!' तो वह 'सदा सोऽहं' जपने लगा। फिर वे भक्ति वाले आ आ पहुँचे और पूछा कि 'जप चलता है?' तो कहा कि 'हाँ महाराज! वे पहिले वाले गुरुदेव आये थे। उन्होंने उसमें 'स' और मिलवा दिया है, तब से मैं 'सदा सोऽहं' जपता हूँ।' उन्होंने कहा अच्छा तो उसके पहिले एक

'दा' और लगा लिया करो' तो वह 'दासदासोऽहम्' जपने

लगा। इस प्रकार दो गुरुओं की टक्कर भी ज्ञान-भक्ति रूप दो पलड़ों में झूलने वाले प्रभु की प्राप्ति आनन्द से करा देती है।

अतः गुरुओं की महिमा बड़ी विचित्र है, जो शिष्य को भी किसी दिन गुरु बना देती है।

श्रीमद्भागवत (१।१।८) में लिखा है 'ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ।' शिष्य में स्नेह हो तो गुरु गुप्त से गुप्त रहस्य बता देते हैं। गुरु को गौ और शिष्य को बछड़ा बताया गया है। 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'—भगवान् तो जगत् के गुरु हैं। उनका हो कहना ही क्या ? ससार में सब से बड़े गुरु शंकर हैं।

गुरु ब्रह्मा भी है, क्योंकि वह शिष्य को बनाता है। वह विष्णु भी है, वह रक्षा भी करता है; किन्तु गुरु साक्षात् महेश्वर है। वह उसके सभी दोषों का संहार करता है। अतएव गुरु का 'व्याकरण शास्त्र' ने अर्थ किया है—'गृणातीति गुरुः', 'गृ निगरणे' धातु से अर्थ लेते हैं—जो अन्दर से कुछ निकालकर दे, वह 'गुरु' कहलाता है।

कोषकार अर्थ करते हैं—'गुकारस्तमसि प्रोक्तो रुकारस्तन्निवर्तकः'। पहले अक्षर 'गु' का मतलब है—'अन्धकार' और दूसरे 'रु' का अर्थ है उसको हटाने वाला। इस प्रकार गुरुतत्त्व की सभी शास्त्रों ने प्रशंसा की है। ईश्वर के अस्तित्व

में मतभेद हो गये हों, किन्तु गुरु में नहीं। गुरु को सभी ने माना है। बहुत-से सम्प्रदाय तो भारत में केवल गुरु वाणी के आधार पर ही कायम हैं। वे और कुछ न देखते और न सुनते हैं।

कबीर ने गुरु-महिमा में अच्छा दोहा लिखा है—

गुरु कुम्हार, सिख कुंभ है, घड़ि-घड़ि काढ़ै खोट।
हाथ सहारा दे रहै, लागि न पावै चोट॥

प्रथम तो गुरु को मारना-पीटना—खासकर कान मरोड़ना आदि चाहिये ही नहीं—'सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः'—गुरुओं को अमृत भरे हाथों से कभी कुछ मारना चाहिये, न कि जहर भरे हाथों से। गुरु को शिष्य के संताप की ओर ही ध्यान रखना चाहिये।

बहवो गुरवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।
विरला गुरवः सन्ति शिष्यसंतापहारकाः॥

'शिष्य के वित्त का अपहरण करने वाले गुरु बहुत होते हैं, पर शिष्य का संताप हरने वाले गुरु विरले ही होते हैं।'

शिष तौ ऐसा चाहिये, (जो) गुरु को सर्वस देय।
गुरु तौ ऐसा चाहिये (जो) शिष का कछू न लेय॥

इस में शिष्य एवं गुरु दोनों को परस्पर निर्लोभ बताया गया है। भावना बढ़ाने के जो स्थान बताये जा रहे हैं, उसमें सातवाँ स्थान गुरु का है।

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥

अतः प्रथम ही सोच-विचार कर योग्य गुरु का वरण करना चाहिये, गतानुगतिक-न्याय से नहीं—जिससे फिर श्रद्धा तोड़नी न पड़े।

एकलव्य ने अपने अभ्यास में गुरु की भावना भरकर सफलता प्राप्त की थी। गुरु के द्वारा जपनीय मन्त्र ग्रहण करना 'दीक्षा' कहाता है, किन्तु उसका यह भाव नहीं कि उसे किसी के सामने बोले ही नहीं और केवल गुरु भी उसके कान में मुँह लगाकर ही सुनाये। गायत्री-दीक्षा में तो स्पष्ट लिखा है—'गृहीतपादाङ्गुष्ठो नेत्रेषु नेत्रे सम्मिश्रयन् निवारितशङ्खादिस्वनो दीक्षां गृह्णीयात्' कुछ भीरु विद्वानों ने इस कर्णदीक्षा का प्रचार कर दिया है। ऐसे ही स्त्री-जाति के लिये भी कर्णदीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं। वे पति के गुरु को ही गुरु मानें या ज्ञान सुनाने वाले किसी भी सच्चरित्र पवित्र पुरुष को गुरु कहकर संतुष्ट रहें। अब कुछ स्त्रियाँ भी स्त्रियों की गुरु होने लगी हैं, किन्तु शास्त्रों ने ऐसे गुरुओं के गुरुडम को गुरुत्व के महत्व को क्षति पहुँचाने वाला ही कहा है। 'गुरु' शब्द गुरुता के अर्थ में स्त्रीलिंग में गया ही नहीं है। वह तो केवल गर्भिणी के अर्थ में 'गुर्वी' बनकर रह गया है। जैसे गो जन्म से ही पूज्य होती है, उसको संस्कारों की

आवश्यकता नहीं, ऐसे ही दुर्गास्वरूपा स्त्री को गुरु आदि से किसी संस्कार के कराने की आवश्यकता नहीं है।

स्त्री को गुरु बनाने में एक और विप्रतिपत्ति आती है कि प्रत्येक दीक्षा के अवसर पर शिष्य को साष्टांग प्रणाम करना लिखा गया है। उसके करने में स्त्री के स्तनों का स्पर्श पृथ्वी से हो जाता है। शास्त्रों के अनुसार पृथ्वी इतनी चीजों का स्पर्श करने में खेद मानती है, जैसा 'पाराशर-स्मृति' में लिखा है -

विप्रं निरासनं शङ्खं शालग्रामशिलां तथा।
सर्वंसहा न सहते कामिनीकुचमण्डलम्॥

'बिना आसन के ब्राह्मण को, शङ्ख को तथा शालग्राम-शिला को और स्त्री के कुचमण्डल को सब कुछ सहने वाली पृथ्वी भी नहीं सह सकती।' शास्त्राज्ञा की रक्षा करते हुए किया हुआ गुरु-वरण ही कल्याणकारी होता है। शास्त्र और गुरु का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। गुरु न हो तो शास्त्र कौन लिखता ? शास्त्र न होते तो गुरु की पहचान कौन कराता ?

'गुरु कीजै जानकर; पानी पीजे छानकर।'



प्रश्नोत्तरी

प्रश्न—शक्तिपात दीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् साधक में परिवर्तन आ जाना चाहिए, किन्तु देखा जाता है कि प्रायः साधकों के मनोविकार दीक्षोपरान्त भी पूर्ववत् ही रहते हैं। फिर दीक्षा से क्या लाभ हुआ ?

उत्तर—ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि दीक्षा ग्रहण करने मात्र से ही शिष्य साधनमुक्त होकर सिद्ध हो जाता है। यदि वास्तव में ही शिष्य शास्त्रानुसार उपयुक्ततम अधिकारी हो तो तीव्रतम दीक्षा सम्पन्न होते ही वह तत्काल ही वास्तविक लक्ष्य—मोक्ष-प्राप्त कर सकता है। अन्यथा दीक्षा से कुण्डलिनी की जागृति होकर आभ्यान्तरिक साधन आरम्भ होता है और उसे अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त साधन करना पड़ता है। दीक्षा के पश्चात् शक्ति को सर्वप्रथम साधक के अन्दर पूर्व संचित संस्कारों का क्षय, गुणों का शमन, चित्त या गुणों से पाथक्य एवं साधक के मन, चित्त, प्राण और शरीर का साधनानुकूल निर्माण करना पड़ता है। इसलिये दीक्षा के बाद भी चित्त अभी वही और वैसा ही होने के कारण सामान्यतया दीक्षा से पूर्व के विकार साधकों में दृष्टिगोचर हो सकते हैं। इस विषय में अग्रलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये।

१—केवल गर्भ धारण से स्त्री को सन्तान-प्राप्ति नहीं होती, अपितु गर्भ-लक्षण प्रकट होकर उसे इतना ही ज्ञात होता है कि वह गर्भवती है। उसी तरह शक्तिपात दीक्षित साधक को लक्ष्य का बोध होकर समझ आती है कि उसके अन्दर लक्ष्य-प्राप्ति-ज्ञान का बीज स्थापित हो गया है।

२—जिस प्रकार गर्भवती स्त्री गर्भ-वृद्धि के लक्षण अनुभव करती है, उस प्रकार शिष्य भी क्रियाओं के विकास से; उनके स्थूलत्व से सूक्ष्मत्व की ओर विकसित होने से तथा नित्य नए-नए अनुभव होते रहने से अपनी ज्ञानवृद्धि का अनुभव करता है।

३—जैसे स्त्री गर्भ-रक्षा के लिए सावधान-चित्त रहती है तथा नियमों का पालन करती है, इसी प्रकार साधक को भी साधन-ज्ञान-उन्नति के रक्षार्थ गुरु-आदेशानुसार विवेकपूर्वक शास्त्रकथित नियमादि का पालन करना चाहिये।

४—जिस प्रकार गर्भवती नारी दुष्टा होकर आवश्यक नियमों की अवहेलना करके उदरस्थ गर्भ नष्ट कर सकती है, उसी तरह गुरु-अनुग्रह प्राप्त करने पर भी यदि शिष्य शास्त्र-विरुद्ध दुष्कर्मों का आचरण करे तो उसकी दीक्षा व्यर्थ हो सकती है।

कई साधक दीक्षा लाभ होने पर अपने आपको विधि-निषेध से परे मान बैठकर मनानुकूल आचरण करने लगते

(शेष कवर पृष्ठ ३ पर)

पत्रावलि

[यदि आपके पास श्रीगुरुओं के कोई उपदेशात्मक पत्र हों तो दूसरों को भी उनसे लाभान्वित करने के लिये इस स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशनार्थ मूल पत्र अथवा उसकी प्रतिलिपि भेजने का कष्ट करें।

—सम्पादक]

[गुजराती से अनूदित]

विज्ञान भवन, ऋषिकेश
दिनांक १५-१२-५८।

श्रीमान् जी ! परम शुभ आशीर्वाद !

आपका पत्र तथा २०) रुपये मनिऑर्डर से प्राप्त हुए। आपसे समाचार प्राप्त कर प्रसन्नता हुई। आपके पत्रानुसार आज ही महायोग विज्ञान की एक प्रति रजिस्टर्ड बुक पोस्ट द्वारा घर के पते पर भेज दी है। मिलने पर प्राप्ति के समाचार भेजना।

आपने लिखा है कि पुस्तक का मूल्य एवं पोस्ट खर्च के अतिरिक्त उर्वरित रकम सेवा के रूप में स्वीकृत कीजिएगा। आपने तो निजी श्रद्धा-भक्ति के अनुसार ठीक लिखा, किन्तु

मुझे विचार हुआ कि मैंने आपके प्रति कोई उपकार तो नहीं किया, अतः सेवा स्वीकार करने में संकोच होता है। तथापि मैंने आपकी भक्तियुक्त सेवा स्वीकार की है। कल श्रीमान् डा० दवे की पत्नी ने २०) रुपये मनीआर्डर से भेजे हैं और दो पुस्तकें भेजने के लिए कहा है। पुस्तकों का मूल्य बाद करने पर शेष रकम सेवा में स्वीकार कर लेने को कहा है। वे जब यहाँ आए थे, तब भी यथेष्ट सेवा की थी. फिर भी यह सेवा आई है। मेरा स्वभाव ऐसा है कि जिसका मैं अर्थ और परमार्थ द्वारा कोई उपकार न कर सकूँ, उसकी सेवा ग्रहण नहीं करता। अब प्रसंग ऐसा आ खड़ा है कि दवे जी तथा आप हमारे सम्पर्क में आ गये हैं। आप में हमारी गुरु शक्ति है, इसलिए आप हमारे ही बन चुके हैं और हम आपके आत्मभाव से जबकि हम सब एक बने हैं तो आप सेवा करने के और हम सेवा लेने के अधिकारी हैं। यह समझकर सेवा ग्रहण की है। सेवा करने से और लेने से परस्पर सद्भावना स्वाभाविक ही परस्पर के मन को आकर्षित करती है,--बाँधती है। यह बन्धन हम सबके लिये परम कल्याणकारी है क्योंकि गुरु-शक्ति हम सबमें एक ही है। वह हमें अपनी ओर खींच लेती है। इसीलिए हम एक-दूसरे से मिले हैं।

गुरु-शक्ति के सम्बन्ध में काफी बातें जानने योग्य हैं। महायोग विज्ञान पढ़कर विचार करोगे तो सुलभता से ज्ञात

होगा कि गुरु-शक्ति द्वारा स्थापित आत्म-सम्बन्ध कभी भी विस्मृत नहीं होता। जिस तरह पावर हाउस से तार द्वारा विद्युत् प्रवाहित होती है, उसी तरह गुरुओं से शक्ति संचरित होकर शिष्यों में क्रिया करने लगती है। इस क्रिया शक्ति के बहुत अलौकिक गुण हैं जिनके अनुभव महायोग साधन करने वाले प्रत्येक साधक को सर्वदा होते रहते हैं। समय-समय पर ऐसी अघटित घटनाएं हुआ करती हैं कि उनका स्मरण होते ही रोमांच खड़े होते हैं। गुरु-शक्ति साधकों की किस तरह रक्षा करती है, इसकी बहुत-सी आश्चर्यजनक बातें हैं।

डॉ० दवे जब यहाँ आये थे तब बम्बई से सेठ दौलतराय सांघवी भी आये हुए थे। उन्होंने दीक्षा ली थी। हम सब साथ साधन में बैठे थे। परस्पर के अनुभवों की अलौकिक बातें की थीं। सांघवी जी यहाँ २५ दिन ठहर कर परसों ही हरिद्वार चले गये हैं। वहाँ से बम्बई प्रयाण करेंगे। यदि आप डॉ० दवे से मिलेंगे हो उनके बारे में बहुत बातें जानने को मिलेंगी। कहने का तात्पर्य यह है कि हम सब गुरु-शक्ति से प्रेरित होकर कहाँ और किस संयोग में मिलते हैं, इसकी स्वप्न में भी कल्पना आ नहीं सकती। हमारा यह मिलन रहस्यपूर्ण है जिसका बोध शक्ति स्वयं यथायोग्य समय पर करायेगी। डॉ० दवे के पत्र यहां प्रायः आते रहते हैं। इस

विषय में उनकी अच्छी उन्नति है। अतः आप उनसे सत्सङ्ग जरूर करते रहिये।

क्रिया के विषय में योगी गुरु श्री नारायणतीर्थ देव ने उपदेश किया है कि जो लोग महायोग-गुरु-शक्ति का साधन करते हैं, उन को किसी प्रकार की चिन्ता, भय या शङ्का नहीं करनी चाहिये, व्यावहारिक कार्य-कुशलता से सम्पादन करने चाहियें, सर्वदा गुरुशक्ति का स्मरण करना चाहिये, किसी भी कार्य में निरुत्साह नहीं होना चाहिये एवं सांसारिक कार्यों से भयभीत या दुःखी नहीं होना चाहिये। गुरु-शक्ति पर निर्भर रह कर देश-कालानुसार अपना कर्त्तव्य-निवाह करना चाहिये। सर्वदा प्रसन्नचित्त होकर रहना चाहिये। स्वयं को कभी भी हीन न समझकर भाग्यवान् समझना और जिस समय जो भी कार्य उपस्थित हुआ हो, वह यथा विधि करना चाहिये। यह हुई व्यवहार विषयक बात – 'योगः कर्मसु कौशलम्'—निष्काम कर्म योग करने की।

अब रही परमार्थ साधन की बात। अपनी अनुकूलता से प्रातः एवं सायंकाल नियमपूर्वक नित्य योग-साधन करना। जितना भी समय मिले एकाग्र चित्त से क्रिया में बैठना। क्रिया में अपनी ओर से कुछ न करना, परन्तु अन्तर्शक्ति की प्रेरणा से जो भी क्रियायें हों या होना चाहें, उनको होने देना। क्रियायें मानसिक, शारीरिक एवं प्राण की होती हैं जिनका वर्णन महायोग विज्ञानान्तर्गत दीक्षा प्रकरण में दिया

है । उनको पढ़कर चरितार्थ करना । क्रियायें नित्य एक-सी नहीं होतीं । शरीर और मन की आवश्यकतानुसार अल्प या विशेष होती रहती हैं । यदि शरीर विशेष क्लान्त हो तो क्लान्ति दूर करने के लिये हाथ-पैर का हिलना, शरीर में कम्प, भूमिपात, उत्फालन, उछल-कूद आदि कई शारीरिक क्रियायें होती हैं । मन स्वस्थ हो तो अच्छा ध्यान लगता है, प्रसन्नता का अनुभव होता है, आत्मतुष्टि रूप सुख मिलता है । यदि मन विशेष अस्वस्थ हो तो संकल्प विकल्प हुआ करते हैं, परन्तु अल्प काल तक ही स्थिति रहती है । यदि मन विशेष चंचल हो तो गुरुप्रदत्त मन्त्र का जप करने से मन शान्त होता है । शरीर स्वस्थ और मन प्रफुल्लित हो जाय तो समझना कि क्रिया-वेग समाप्त हो गया है ।

क्रिया-साधन के लिए स्थान अलग चाहिये । अपने अतिरिक्त वहाँ दूसरा कोई न होना चाहिये । क्रिया होते समय बालकों को छूना नहीं । उनको छूने से या निकट बैठाने से उनमें शक्ति का सक्रमण होता है, परिणामतः वे भी क्रियायें करने लगते हैं । एक व्यक्ति ने क्रिया करते समय अपने ४-५ वर्ष के पुत्र को गोद में बिठाया था । क्रिया समाप्त होने के पश्चात् देखा तो बालक का शरीर शीत हो गया था, नाड़ियाँ भी बन्द हो गई थीं । रात्रि के दस बजे थे, डाक्टर को बुलाया गया । उसने मृत्यु की आशंका व्यक्त की । घर में एकदम ऊधम मच गई । रात्रि का समय होने

नियमावली

१—ग्राहक-सदस्यता जनवरी से ही पूरे वर्ष के लिये आरम्भ होगी। बीच में सदस्य बनने वालों को उस वर्ष के पिछले उपलब्ध अङ्क भेज दिये जावेंगे।

२—लेखकों से निवेदन है कि रचनायें कागज के एक ही ओर, पर्याप्त हाशिया छोड़कर, स्वच्छ अक्षरों में लिखकर भेजें। अधिक लम्बे लेखों को स्वीकार करना अभी कठिन है। अन्य पत्रिकाओं को भी प्रकाशनार्थ भेजी हुई अथवा अन्यत्र प्रकाशित रचनायें भेजने का कष्ट न करें।

३—लेखक अपनी रचनाओं की प्रतिलिपी अपने पास रख लें, अस्वीकृत रचनाओं को वापिस भेजने का प्रबन्ध नहीं है।

४—लेखों के परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन, छापने अथवा न छापने का अधिकार सम्पादक को रहेगा।

५—बाहर के विज्ञापन स्वीकार नहीं किये जाते।

६—आजीवन सदस्यता की राशि सर्वथा अपरिवर्तनीय है।

७—विदेशों में रहने वाले ग्राहक-सदस्यों को सामान्य शुल्क के अतिरिक्त डाक-व्यय भी देना पड़ेगा।

८—पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक क्रमाङ्क अवश्य दें। पत्र-व्यवहार तथा शुल्क भेजने का पता—व्यवस्थापक 'दिव्यानन्द', विज्ञान प्रेस, ऋृषिकेश (जि० देहरादून) उ० प्र०।

९—पत्रोत्तर के लिए साथ जवाबी कार्ड अथवा लिफाफा आना आवश्यक है।

सत्वाधिकारी, सम्पादक तथा प्रकाशक श्री स्वामी शिवोम्‌तीर्थ जी के लिए, श्री देवेन्द्र विज्ञानी द्वारा विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश (देहरादून) उ०प्र० में मुद्रित तथा सिद्धसाधक संस्थान, नारायण कुटी, देवास (मध्य प्रदेश) से प्रकाशित।

के कारण बालक को श्मशान नहीं ले गये। घर के सभी सदस्य रोने-पीटने लगे थे। रात को २॥ बजे बालक अकस्मात् उठा और पद्मासन में बैठकर प्राणायाम करने लगा। ठीक एक घण्टे बाद स्वस्थ हो गया। इस तरह भी कभी बन जाता है। दूसरी भी एक ऐसी घटना बनी है। जिस कमरे में माता-पिता क्रिया साधन करते थे, वहाँ उनके आसन पड़े हुए थे। माता-पिता एवं गुरु जी के क्रिया में उठने के पश्चात् उस घर के तीनों बच्चे दरवाजा बन्द करके उन्हीं कम्बलों पर आसनस्थ हुए। बैठते ही क्रिया का आरम्भ हुआ। खूब आवाज हुई। तीनों डर गये। दरवाजा अन्दर से बन्द था, उनसे खुल नहीं पाता था और बड़ी मुसीबत हुई।

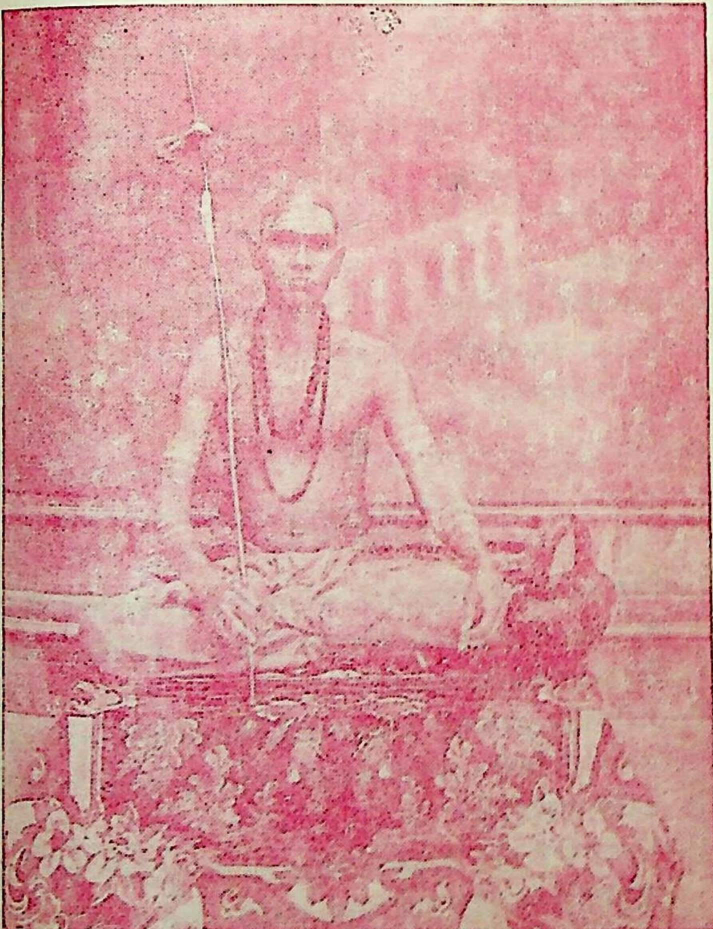
क्रिया के विषय में कई आश्चर्यकारक घटनायें देखने में आई हैं। यह क्रिया महाशक्ति है। जिनको यह प्राप्त होती है, वे बड़भागी हैं। आप लोग परम भाग्यशाली हैं, आपको गुरु-शक्ति प्राप्त है। वह आपको कामनायें पूर्ण करके अन्त में मुक्ति प्रदान करेगी।

घर में सबको हमारा सस्नेह शुभ आशीर्वाद।

नित्य मङ्गलाकांक्षी—
योगेन्द्र विज्ञानी

[पृष्ठ ७५ के आगे]
हैं, किन्तु धर्माधर्म बुद्धि से ऊपर उठकर जब तक ज्ञान-प्राप्ति न हो तब तक शास्त्रोचित जीवन का पालन करना साधकों के लिए सर्वथैव आवश्यक है।

दिव्यानन्द



ब्रह्मलीन श्री १००८ श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज
दण्ड ग्रहण किये हुये ।

वर्ष : ५] अक्टूबर-दिसम्बर १९७१ [अङ्क : ४

इस अंक में

निवेदन

१—जिन सज्जनों ने 'दिव्यानन्द' का शुल्क अभी तक नहीं भेजा है, वे कृपया धनादेश से अविलम्ब भेज दें। वी० पी० से अंक भेजना या मंगाना व्यर्थ-व्यय-साध्य है।

२—मनीआर्डर कूपन पर अपना स्पष्ट, सुवाच्य तथा पूरा पता अवश्य ही लिखें। अनेकों सज्जन ऐसा न करके कठिनाई उपस्थित करते हैं।

३—'साधन-पथ' और 'साधन-संकेत'—इन दो पुस्तकों के लिए न्यूनतम ३.०० तीन रुपये का मनीआर्डर भेजना चाहिये,—इस से कम राशि का नहीं।

—व्यवस्थापक

सिद्ध-महायोग सम्बन्धी एकमेव त्रैमासिक

卐 दिव्यानन्द 卐

वर्ष : ५] अक्टूबर-दिसम्बर १९७१ [अङ्क : ४

प्रेरणा के स्रोत—

शक्तिपातप्रवर्तक श्री स्वामी नारायणतीर्थदेव

शक्तिपाताचार्य श्री स्वामी विष्णुतीर्थ

उद्देश्य —

लोककल्याणार्थ सिद्धसाधन शक्तिपात सम्बन्धी गवेषण, अनुसन्धान एवं ज्ञातव्य-प्रकाशनादि द्वारा श्रेयपथप्रशस्ति

वार्षिक शुल्क —

तीन रुपया

आजीवन सदस्यता-शुल्क—

१०१ रुपये

प्रकाशन-मास —

जनवरी, अप्रैल, जुलाई, अक्टोबर

प्रकाशन-स्थल

नारायण कुटी, संन्यास आश्रम,

देवास (म०प्र)

देश-सेवक

—पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज—

★

जब देश पर विदेशी साम्राज्य की सत्ता थी, तब गाँधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन में जेल-यात्रा करना तथा जनता को विद्रोह करने के लिए तेजस्वी व्याख्यानों द्वारा उत्तेजित करना देश-सेवा का लक्षण माना जाता था। जो गांधी टोपी पहिनकर खद्दर की वर्दी पहिन लेता था, उसे अंग्रेजी साम्राज्य का शत्रु और देश का अनन्य भक्त समझा जाता था। परन्तु आज न तो विदेशी सत्ता का साम्राज्य है, न राजद्रोह करने की आवश्यकता। उत्तेजनापूर्ण व्याख्यानों का कार्य समाप्त हुआ। गांधी-टोपी और खद्दर की वर्दी म जनता को रिश्वत और काले कारनामों की सड़ांध आने लगी है। जैसे अंग्रेजों के समय सामान्य जनता हकूमत पसन्द, खुशामदी अमन-सभाइयों को टोडी बच्चा कह कर घृणा की दृष्टि से देखती थी, आज गाँधी-टोपी-धारी और खद्दर-पोश सरकारी अर्थात् पब्लिक की कारों में इधर से उधर घूम-घूम कर शान जमाने वालों को देखती है। तब काँग्रेस का सदस्य बनना देश की सेवा का चिह्न समझा जाता था, अब कांग्रेस ही की क्यों कहें, समाजवादी, कम्युनिष्ट, जनसंघ अथवा अन्य किसी भी नामधेय पार्टी का सदस्य होने से ही कोई मनुष्य देश-सेवक नहीं

कहला सकता, अपनी पार्टी का सेवक कहलाने का दावा चाहे कर सके।

एक सामान्य दूध या घी की दुकान पर बैठने वाला, एक सड़क पर घूमने वाला, खौंमचे वाला, एक हलवाई अथवा सब्जी और फल बेचने वाला व्यक्ति, जो पार्टी का सदस्य नहीं है और अपनी दुकान पर शुद्ध खाद्य-पदार्थ बेचने को दृढ़-प्रतिज्ञ है, वह सब पार्टी वालों से जनता की और देश की अधिक सेवा कर रहा है।

देश-विभाजन के समय ऐसी खबरें सुनने में आई थीं कि कुछ गुण्डों ने फलों में विष के इन्जैक्शन लगाकर आतंक उत्पन्न कर दिया था। जो इन फलों को खाता था, विष के प्रभाव से रुग्ण हो जाता और शनैः-शनै मृत्यु का ग्रास बन जाता था। वह विष क्रमशः मृत्यु के निकट ले जाकर घातक का कार्य करता था। आज हम देख रहे हैं कि खाद्य-पदार्थों में अखाद्य-मिश्रण, बनावटी, नकली औषधियाँ, नकली इन्जैक्शन और स्टेशनों पर चाय के काढ़े जन-साधारण के स्वास्थ्य का नाश कर रहे हैं। अस्पतालों में औषधियों के स्थान पर पानी दिया जाकर रोगों की चिकित्सा के स्थान पर उनकी अवहेलना की और लापरवाही दिखाई जाती है। यदि गरीब रोगी डाक्टर साहब की जेब गरम करने की सामर्थ्य नहीं रखता तो उसे इस धोखे की चिकित्सा के भरोसे रह कर अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। यह सब गद्दारी नहीं तो क्या है? क्या इसे हम देश की सेवा समझें?

आज देश की माँग है कि प्रत्येक बाल-वृद्ध नर-नारी स्वस्थ हो, देश की सामूहिक शक्ति की वृद्धि करने में योग देने के योग्य हो, वह वीर, साहसी, धैर्यवान् और देश के निर्माण-कार्य में सहायता देने के उपयुक्त हो। ईमानदारी से देश का हितैषी हो,

परन्तु यदि उसे स्वास्थ्यप्रद पेट भर भोजन भी न मिले और चिन्ताओं से उसके मन और प्राण मृतप्राय हो रहे हों, बी. ए. एम.ए. पास करके भी चपरासियों की नौकरी करने तक को हाकिमों का मुख ताकना पड़े और फिर भी हताश होकर अपने कर्मों को कोसे और गुण्डों को ऐश की बंशी बजाता देखे तो उस पर क्या बीतेगी ?

देश-सेवा का वास्तविक स्थान पार्टी-बंदियों में नहीं है और न सरकारी कुर्सियों पर है. क्योंकि ऐसा विरला ही कोई नामधन्य माता का पुत्र होगा जो अपने सरकारी पद से अवांछनीय लाभ उठाने में संकोच करता होगा। पार्टियाँ तो धारा-सभाओं, नगर-पालिकाओं के निर्वाचन अड्डे बनी हुई हैं. जिनमें हर प्रकार की गुण्डागीरी और बदमाशियों का नङ्गा नाच देखने में आता है, यह किस का अनुभव नहीं ? हमें याद है कि जब जावा की शक्कर का बायकाट किया गया था, तब हलवाइयों ने प्रतिज्ञाएँ ली थीं और उनकी दुकानों पर देशी शक्कर की मिठाई के बोर्ड दीखने लगे थे। क्या आज कोई हलवाई यह दावा कर सकता है कि उसकी दुकान पर शुद्ध दूध, घी के पदार्थ मिलते हैं ? जब कभी दुकानदारों से इस विषय पर वार्तालाप का अवसर आता है, तब यही उत्तर मिलता है कि ईमानदारी और सत्य के भरोसे तो दिवाला निकलने की नौबत आ जाती है। आजकल तो दुकान-दारों में ईमानदारी की नीति के स्थान पर बेईमानी की ही नीति सफलता दिला रही है। किसान और ग्रामीण व्यापारियों से लेकर शहरी दुकानदार तक सब का यही हाल है।

कुछ ही दिन पूर्व की बात है कि रतलाम से इन्दौर जाते हुए इन्टर क्लास के दो यात्रियों में विवाद छिड़ गया। मेरे लिए भी उनके विवाद का विषय एक मनोरंजन का साधन बन गया।

उनमें एक सफेद-पोश ऊंची पगड़ी वाले सेठ जी थे, दूसरे थे कोई मनचले युवक। नवयुवक ने सेठ जी पर आरोप लगाया कि

रिश्वतखोरी के अपराध का सारा दायित्व सेठ जी के समाज पर है। इस आरोप का उत्तर सुनकर अन्य सब यात्री चकित हो गए, जब कि उक्त सेठ जी ने कहा कि हम तो अपने व्यापार के हित के लिए रिश्वत देते हैं, हम दोषी नहीं हैं, रिश्वत लेने वाला अपराधी है। बहुत समझाने पर भी सेठ जी इस सरल-सी बात को समझने में असमर्थ रहे कि अपराध का अनुमोदक और सहायक भी अपराधी होता है।

अब करना क्या चाहिए, यह विचारणीय है। सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए राज्य-सत्ता का मुख ताकना गलती है। खाद्य-पदार्थों के सरकारी निरीक्षक स्वयं दुकानदारों के चक्कर में आकर अपने कर्तव्य से विमुख हो जाते हैं, पुलिस कर्मचारी अपराधियों से मिलकर उनके रक्षक बन जाते हैं, यह प्रतिदिन का कटु-अनुभव है। जब बागड़ ही खेत को खाने लगे तो खेत वाला क्या करे?

परिस्थिति यहां तक बिगड़ चुकी है कि जनता इसे और अधिक सहन न कर सकेगी। अराजकता के मूल में ऐसी ही परिस्थितियाँ हुआ करती हैं। अतएव उन तत्वों को खोज-खोज कर संगठित करने की आवश्यकता है जो इस विषम परिस्थित से देश को मुक्त कर सकें और उसे अराजकता से दूर रखने में समर्थ हो सकें।

हम आशा करते हैं कि देश के कर्णधार और प्रमुख व्यक्ति इस ओर ध्यान देंगे और निस्वार्थ देश-भक्तों का एक ऐसा दल तैयार करके देश-व्यापी कार्य का समारंभ करेंगे जिसका ध्येय ही आदर्श नागरिकता का प्रचार हो और उन तत्वों को क्रियात्मक रूप में अपने जीवन में ढालना उस दल के प्रत्येक व्यक्ति का व्रत हो।

श्री लोकनाथ तीर्थ जीवन-चरित

[गताङ्क से आगे]

श्री गुरु महाराज और श्री स्वामी जी

श्री नारायणप्रसाद दुबे कोर्ट में दादासाहब पराण्डे से मिले और पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। दादासाहब को भी बड़ी खुशी हुई।

दुबे जी के जाने के पश्चात् भी दादासाहब उसी उल्लास और आनन्द में थे। जिस उद्देश्य से दुबे जी को भेजा था, वह सफल हुआ था। जो भी बातें पढ़ी थीं, उसका प्रत्यक्ष अनुभव देखने को मिला था। सायंकाल दादासाहब खर्रा घाट पर श्री गुलवणी जी के पास आये। आज तक जो छिपी हुई बात थी, उसको प्रकट करने की इच्छा हुई। कहने लगे 'वामनराव जी! आज एक विशेष बात कहता हूँ। शक्तिपात के जानकार एक संन्यासी होशंगाबाद में आये हैं। तंत्र-शास्त्र में कुण्डलिनी शक्ति जागृत करने का एक विशेष मार्ग है जिसे 'वेध-दीक्षा' या 'शक्तिपात दीक्षा' कहते हैं। यह अतीव सीधा, आसान एवं समर्थ साधन है। इसमें साधक को स्वयं कुछ भी नहीं करना पड़ता, वरन् साधन ही जो करवाना उचित है, वह साधक से करवाता है। समर्थ महापुरुष संकल्प से शक्तिसंचार करते हैं। कुछ दिन

पूर्व मैंने कुलार्णव तन्त्र पढ़ा था जिसमें विस्तारपूर्वक ये बातें थीं। मैं खोज में ही था और ठीक ऐसे ही एक महापुरुष मुझे मिले हैं। जो इस प्रकार की दीक्षा देते हैं। आपका नाम स्वामी चिन्मयानन्द सरस्वति है। युवा हैं, किन्तु विचार और गम्भीरता प्रौढ़ों को भी लजाती है।' आदि काफी बातें दादासाहब ने सुनाईं तथा श्री दुबे जी का पूरा वृत्तान्त अथ से इति तक सुनाया। उस समय श्री गुरु महाराज के साथ श्री शंकर काका आजेगाँवकर, श्री वैद्य मास्टर, श्री बाबा महाजन प्रभृति उपस्थित थे।

दादा साहब की बातों से सबको आश्चर्य हुआ। कुण्डलिनी शक्ति का वर्णन अनेक ग्रन्थों में मिलता है। पातञ्जल योग-दर्शन का साधनक्रम भी शक्ति-जागृति के साधनों के अनुकूल दिखाई देता है। प्राणायामादि का अभ्यास भी इस शक्ति को जाग्रत करने हेतु ही है। जिसके लिये कठोर साधन आवश्यक है, वही बात इतनी आसानी से प्राप्त होना कैसे सम्भव है? शक्ति-जागरण सहज कैसे होगा? सबको आश्चर्य होने का यही कारण था।

सभी साधकगण मंगलवार घाट पर दर्शनार्थ गये। स्वामी जी विराजमान् थे। उनका प्रसन्न मुख मन को लुभाने वाला था। इतने छोटे संन्यासी कभी देखने में नहीं आये थे। सादगी, वैराग्य की प्रखरता प्रस्फुटित हो रही थी। अनायास सद्भाव जागृत होते गये। परिणामतः सभी ने साष्टांग प्रणिपात किये और बैठ गये।

पूछताछ होने पर सब ने अपना-अपना परिचय दिया। इसके पश्चात् न कोई पूछता और न कोई बोलता था, कमरे में निस्तब्धता फैली हुई थी। वातावरण शान्त एवं गंभीर था। यह किसी सूक्ष्म अदृश्य शक्ति का विलास था।

कमरे में अन्य कोई व्यक्ति आंखें मूँदकर बैठा था। वह डोल

रहा था। उसके दीर्घ-प्रदीर्घ श्वास चल रहे थे। गर्दन भी चक्करदार घूम रही थी। इन सभी चेष्टाओं से सभी अनभिज्ञ थे।

उस व्यक्ति की क्रियाएँ रुक गईं। आंखें खुल गईं और उसने स्वामी जी के चरणों में वन्दन किया। उसका मुख कमल की तरह खिला था।

स्वामी जी—क्यों नारायण ! कैसी तबियत है ?

नारायणप्रसाद - प्रभो, आपकी दया से ठीक है। चमड़ी में काफी सुधार मालूम होता है।

स्वामी जी—भगवान् की दया है।

दादासाहब—स्वामी जी दीक्षा से क्या अनुभव होते हैं ?

स्वामी जी—अनेक तरह के अनुभव होते हैं जैसे आसन, मुद्रा, ध्वनि, विविध क्रिया, दर्शन, बन्ध, प्राणायाम, हँसना, रोना आदि।

दादासाहब—इन अनुभवों से मन की स्थिति कैसी रहती है ?

स्वामी जी—नारायणप्रसाद से पूछो। क्यों नारायण......?

नारायणप्रसाद—भगवन् ! क्या कहूं ? गत चार दिनों से मन में उल्हास, स्फूर्ति, आनन्द ठूँसकर भरा हुआ लगता है।

गुलवणी जी—स्वामी जी ! केवल इन अनुभवों से कैसे माना जाय कि कुण्डलिनी जागृत हुई है ?

स्वामी जी—शास्त्र के अनुसार कुण्डलिनी का स्थान निश्चित् है। वह चैतन्यमयी है, शक्तिशाली है, आनन्दवर्धिनी है। ये सारे गुण अनुभव में आते हैं। मूलाधार में हलचल होने लगती है। शक्ति का सारा प्रवाह वहाँ से शुरू होता।

स्वामी जी का एक-एक वाक्य सूत्रवत् था।

सन्ध्याकाल हुआ। सब उठे, स्वामी जी को वन्दन करके घर

लौटे। रास्ते में वार्तालाप होता रहा। नया विषय था, नया अनुभव था, सब कुछ अद्भुत था। दादा साहब गुलवणी जी से बोले – 'वामनराव ! यह एक महान् विद्या है। अपने पास यह आनी चाहिए। मैं दिल से कह रहा हूं।'

दादा साहब का यह निवेदन त्रिकालज्ञ विश्वसूत्रधार की भविष्य की लीला बनी।

कल्पनातीत साधन की एक झलक

'पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबै की शोभा नहीं, देखे ही परमान॥'

परमार्थ में अनुभव ही सर्वोपरि होता है, केवल शाब्दिक छल का कोई लाभ नहीं होता। स्वामी जी यहाँ आने पर ईश्वर-प्रदत्त कार्य में दत्त चित्त रहने लगे थे। १०-१५ दिनों में आपने श्री गोविन्द प्रसाद, किशोरीलाल तथा लक्ष्मीनारायण—इन तीन सज्जनों को दीक्षा और दी। दीक्षित सज्जन पहले की अपेक्षा अधिक प्रसन्नचित्त दीखने लगे थे। स्वामी जी के प्रति श्रद्धा-भक्ति अधिक बढ़ने लगी थी। इन सज्जनों की क्रियाओं का जोश देखकर देखने वालों को इस मार्ग की विशेषता का अनुभव होता था।

श्री गुलवणी जी तथा उनके अन्य सहचरों पर स्वामी जी की निस्पृहता, प्रखरता एवं सरलता का गहरा असर पड़ा। स्वामी जी पैसों को छूते नहीं थे। उन्हें जो भी भेंट मिलती, उसका बंटवारा होता था। नित्य मधुकरी करते थे। लगभग दिन भर एक ही आसन पर बैठे-बैठे अपनी धुन में मस्त रहते थे। कोई साधु खिड़की से झांकता तो उसको लगता था कि स्वामी

जो बैठे-बैठे नींद की झपकियाँ ले रहे हैं और वह उपहास करके चला जाता था। बन्दर क्या जाने अदरख का स्वाद !

'हंसा बगुला एक से मानसरोवर माँहि।
बका ढंढौरी माछरी, हंसा मोती खाहिं॥'

इसी समय पूर्णानन्द आर्यसमाजी की दीक्षा देखकर देखने वालों की मति कुंठित हो गई। पूर्णानन्द गृहस्थी थे। होशंगाबाद में ही रहते थे। उनको भी योगाभ्यास की लगन थी। उन्होंने इस मार्ग में सहायक होने के लिये पं० सातवलेकरजी से प्रार्थना की थी, किन्तु पंडित जी के गोविन्द महाराज का नाम सूचित करने पर वे उनके पास जाते-आते रहते थे। वहीं स्वामी जी का भी पता मिला। पूर्णानन्द जी इस प्रकार स्वामी जी तक पहुंचे और कृपा करने की प्रार्थना की। अनुज्ञा मिली कि कल सुबह आना।

प्रातःकाल में पूर्णानन्द की दीक्षा हुई। दीक्षा के एक-दो मिनिट के बाद उनको भड़भड़ाकर कै हुई। इधर स्वामी जी को भी लगातार दस्त होने लगे। स्वामी जी को लगा कि कुछ गड़बड़ी का मामला है। हाथ-पैर धोकर आये और एकदम पूछा--'क्या कभी विष प्रयोग हुआ था ?' पूर्णानन्द ने स्वीकार किया कि तीन बार हुआ था। फिर पूरी बात बताकर अपनी विवशता प्रकट की।

इस पर स्वामी जी ने कहा—'यह शास्त्र बड़ा ही सूक्ष्म है। यहाँ कुछ भी छिपता नहीं है। सब बाहर प्रकट हो जाएगा तभी तो साधक शुद्ध होगा। इस शास्त्र में लाभ के अतिरिक्त विघ्न भी उपस्थित होते हैं, किन्तु वे सब साधन की भलाई के लिए ही होते हैं। इस में चिन्ता का कोई कारण नहीं। कभी-कभी तो ये भोग साधक के साथ-साथ गुरु को भी भुगतने पड़ते हैं। किन्तु दयाघन प्रभु कृपा करके इन से पार करते हैं।

प्रतिदिन सायंकाल श्री गुलवणी महाराज अन्य मित्रों के

समावेत स्वामी जी के दर्शनार्थ जाते थे। घंटों तक स्वामी जी

का सहवास मिलता था। घर जाने को किसी का जी नहीं चाहता था। भक्तवृन्द के साथ स्वामी जी कभी-कभी नर्मदा मैया के किनारे चले जाया करते थे।

पूर्णानन्द जी की दीक्षा का वृत्तान्त दोपहर से ही पृथक्-पृथक् जानने को मिला था, किन्तु सायंकाल में तो स्वामी जी के श्री मुख से संपूर्ण जानने को मिला।

घर लौटते समय पूर्णानन्द जी से भेंट हुई। उन्होंने सादर कहा —

'सद्गुरु साँचा सूरमा नख शिख मारा पूर।
बाहर घाव न दीखई भीतर चकनाचूर॥'

हमारा काम हो गया

गत दो सप्ताह से मुक्तिनगर का जौहरी मंगलवार घाट पर मुक्ता-मणि बाँट रहा था। अधिकाँश लोग आँख बचाकर निकलते तो कोई कौतूहलवश देखता ही रहता था। कोई सच्चा परखने वाला है या नहीं, यह जाँचने के लिए जौहरी ने दो-चार सज्जनों को मुफ्त में एक-एक मोती प्रदान किया।

मुक्ताफल पाने वाले बेहद खुश थे। उत्तरोत्तर दीक्षारूपी मुक्ता-मणि की अद्भुतता एवं चमक प्रतीत होती थी। किन्तु अभी तक श्री शंकर काका, अजेगांवकर, श्री वैद्य मास्टर और श्री बाबा महाजन में से कोई भी दीक्षा के लिये उद्यत नहीं था। श्री दादासाहब पराण्डे ने भी दीक्षा नहीं ली थी। कारण, ये सब गुरु को तत्वरूप मानने वाले थे। अतः 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं' के पथिक थे। 'गुरु एक से अधिक नहीं करने चाहिएँ',

इस पक्ष में उनकी मान्यता नहीं थी, अपितु 'गुणाः पूजा स्थानं' पर उनकी श्रद्धा थी।

स्वामी जी के नित्य सहवास से अब मन धीरे-धीरे निश्शंक बन रहा था, श्रद्धा का भी विकास होने लगा था। इतने में काशीनाथ पन्त (बाबा महाजन) को पत्र प्राप्त हुआ। लिखा था कि 'तुरन्त लौट आना।' पत्र प्राप्त होते ही दादासाहब का मन दीक्षा के लिए उत्सुक हुआ और उन्होंने श्री गुलवणी महाराज को अपना मनोदय व्यक्त किया।

संध्या हुई और भक्तगण स्वामी जी के दर्शनार्थ गये। तब यह बात स्वामी जी के सम्मुख छिड़ गई। बाबा महाजन भी हाथ जोड़कर दीक्षार्थ प्रार्थना करने लगे। स्वामी जी ने कहा—'काशीनाथ! मैं जरूर तुम्हें दीक्षा दूँगा, किन्तु अब नहीं। गत ५-६ दिन से मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, खाँसी बहुत है। मैं तुम्हारे गाँव आकर तुम्हें दीक्षा दूँगा। चिन्ता मत करो।'

बाबा महाजन खिन्न हुए। मन ही मन कोसने लगे। आँखें भर आईं। निराशा के बादल मंडराने लगे। स्वामी जी ने बहुत समझाया, तब वन्दन करके घर लौटे।

दूसरे दिन दोपहर को बाबा जी को अजेगाँव हिंगोली को जाना था। वे प्रातः उठे और संध्यादि कर्म निपटा कर स्वामी जी के दर्शन करने के लिये चल पड़े। रास्ते में एक श्रीफल तथा पुष्पमाला खरीद ली। घाट पर आये और नर्मदा के जल से हस्त-पादादि प्रक्षालन किया। तदनन्तर स्वामी जी के कुटीर की तरफ गये।

स्वामी जी प्रातः का आह्निक सम्पन्न करके आसन पर बैठे हुए थे। बाबा जी ने यथाविधि स्वामी जी का पूजन किया; साष्टांग प्रणिपात करके कहा—'आज अपने गाँव जा रहा हूँ।'

तुरन्त स्वामी जी बोल उठे – 'ठहरो ! मैं अभी आता हूं।' स्वामी जी चले गये। हाथ-पैर धोकर आते ही उन्होंने आज्ञा की – 'महाजन ! तुम्हारी दीक्षा अभी होगी, बैठो उस आसन पर।'

बाबा जी फूले न समाये। शीघ्रता से आसन पर जम गये। स्वामी जी ने स्पर्श दीक्षा दी और क्षणार्ध में ही उनके शरीर में क्रियायें शुरू हुईं। घूर्णा तथा भस्त्रिका का तीव्र अनुभव होने लगा। मन में आनन्द ही आनन्द व्याप्त हुआ। लगभग एक घण्टे तक आसन जमा रहा। आँखें खुल जाने पर उठे और भावाविष्ट होकर प्रणाम किये। स्वामी जी का प्रसाद रूप में दिया हुआ श्रीफल ग्रहण कर के वे घर लौटे। चलते समय शरीर हल्का-सा मालूम होता था। लौटते समय वे श्री गुलवणी महाराज तथा श्री शंकर काका से मिले और बड़ी प्रसन्नता से कहा – 'हमारा काम हो गया।' श्री गुलवणी जी ने पूछा कि काम कैसे हुआ ? क्या अनुभव हुआ ?

बाबा जी बोले – अनुभव प्रकट नहीं करने चाहियें।

गुलवणी जी ने कहा—दीक्षितों से कहने में कोई आपत्ति नहीं है। बिना कहे कैसे पता चले कि क्या और कैसे होता है ?

बाबा जी ने प्रत्युत्तर किया - सचमुच दिव्य अनुभूति होती है। मैं कह तो नहीं सकता लेकिन बता सकता हूँ।

बाबा जी झट आसन पर बैठ गये।

बैठते ही पूर्ववत् क्रियायें शुरू होने लगीं। दीर्घ श्वास-प्रश्वास तथा घूर्णा, उलट-पुलट होने लगी। श्री गुलवणी महाराज सूक्ष्म अवलोकन करने लगे। सभी क्रियायें शास्त्रानुसार हो रही थीं। शक्ति-संचार के आवेग से भस्त्रिका तेजी से होती थी, आसन-मुद्रादि भी हो रहे थे। श्री गुलवणी जी निःशङ्क हुए और उन्होंने भी मन में कुछ निश्चय कर लिया। बाबा जी की

बैठक समाप्त हुई। आँखों में नशा था। तृप्ति से मुखमण्डल प्रसन्न लग रहा था। बाबा जी उठे और घर गए। उसी दिन दोपहर को उन्होंने अपने गाँव की तरफ प्रयाण किया। श्री शंकर काका और श्री गुलवणी जी के बीच इस सम्बन्ध में श्रद्धायुक्त चर्चा उसी दिन हुई।

जवाहरात नहीं, जौहरी को ही लूट लिया

पिछले कई दिनों से स्वामी जी का स्वास्थ्य ठीक न था। पूर्णानन्द जी को दीक्षा देने के बाद स्वास्थ्य बिगड़ता ही जा रहा था। खाँसी भी परेशान करती थी। भिक्षादि करना कठिन हो गया था। किसी से याचना करना तो स्वामी जी को पसंद नहीं था। सुख-दुःख समचित्त से भुगतना उनका स्वभाव था, इसलिए भिक्षादि व्यवहार चल रहे थे।

गुलवणी महाराज की दृष्टि से ये बातें छिपी नहीं। स्वामी जी को अपने घर ले जाने की उनकी तीव्र इच्छा हो आई। श्री माता जी से भी अनुमति ले ली। आज तक उनकी इस प्रकार की इच्छा नहीं हुई थी, किन्तु बाबा महाजन की दीक्षा ने उन्हें अधिक प्रभावित किया था।

नित्यक्रमानुसार सायंकाल में सभी स्वामी जी के दर्शनार्थ गये। दिन भर स्वामी जी लेटे हुए थे। भक्तवृन्द आते ही वे आसन पर बैठ गए। दर्शनार्थी स्वास्थ्य-संबंधी पूछताछ करने लगे, किन्तु स्वामी जी ने इस विषय में कुछ अधिक नहीं कहा। तब गुलवणी जी ने प्रार्थना की—'स्वामी जी! निवास के लिए आप मेरे घर चलिए। आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं और माता जी की भी प्रबल इच्छा है।' स्वामी जी क्षण भर स्तब्ध रहे और बोले—

'हाँ ! मेरी माता जी की भी यही इच्छा है। कहते हैं, शुभस्य शीघ्रम् ।'

श्री गुलवणी महाराज अत्यन्त प्रमुदित हुए। यह था वह जौहरी जो मंगलवार घाट पर मुक्ता-फल बाँट रहा था। आज का सुदिन अनुपम था। आज केवल मोती ही नहीं अपितु स्वयं जौहरी ही लुट रहा था। 'न माँगें मुक्ति धन संपदा, देहि सत्संग सर्वदा।'—यही सभी सन्तों की मांग रही है।

'हरि से जनि तू हेत कर, कर हरिजन से हेत।
माल मुलुख हरि देत है, हरिजन हरि ही देत॥'

भगवान् तो भक्त की इच्छानुसार राज्य, धन आदि देता है, किन्तु हरिजन संत तो प्रत्यक्ष भगवान् को ही (मिला) देते हैं। इसलिये भक्तों से प्रेम रखना चाहिये। इसमें ही प्रभु संतुष्ट रहते हैं क्योंकि वे भक्ताभिमानी एवं भक्तवत्सल हैं।

स्वामी जी का सामान अधिक न था—एक बिस्तर, झोली और कमण्डल। श्री गुलवणी महाराज ने बिस्तर उठाया और स्वामी जी ने बगल में झोली लटका ली। कमण्डल हाथ में लेकर वे गुलवणी महाराज के साथ चल पड़े।

श्री गुलवणी महाराज का संन्यासियों के प्रति शुरू से ही भाव, आकर्षण तो था ही, किन्तु स्वामी जी के प्रति इनमें अतिरिक्त भक्ति एवं श्रद्धा प्रस्फुटित हुई थी। घर पहुँचे, माता जी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रही थीं। माता-पुत्र के आनन्द की सीमा न रही। प्रदोष का पर्व और यतीश्वर का गृह-प्रवेश, कितना मंगल सुयोग! माता जी ने चरण-स्पर्श किये और इच्छानुसार स्वामी जी का आसन बिछा दिया। स्वामी जी उस दिन अन्न ग्रहण न करके केवल दूध लेकर ही आसन पर लेट गये।

न जाने कौन-सा पुण्योदय था कि दो महापुरुषों का शुभ-संयोग आज के महापर्व पर हो रहा था।

'सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि महतां पुण्येन भवति।'

श्री गुलवणी और श्री स्वामी जी महाराज का मङ्गल-सहवास

श्री गुलवणी जी महाराज अपनी माता तथा गुरु-बन्धुओं के साथ किसी विशिष्ट हेतु से होशंगाबाद आए थे। २७ अगस्त १९२२ से अब तक एक मास हो चुका था। श्री गोविन्द महाराज के सानिध्य में योगाभ्यास चालू था। इसी समय आश्विन शु० ५ सोमवार को श्रीमद् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री चिन्मयानन्द सरस्वती जी (स्वामी जी) का शुभागमन हुआ। विजया दशमी का विजयध्वज लहराते हुए साक्षात् महेश्वरी शक्ति माता स्वामी जी का रूप धारण करके आई थी, मानो 'कोऽजागर्ति-कोऽजागर्ति' भाव से ही उनका आगमन हुआ था। क्रमशः प्रतीत होने लगा कि स्वामी जी सामान्य संन्यासी नहीं अपितु समर्थ महापुरुष हैं। बाबा महाजन की दीक्षा से और अधिक दृढ़ता हुई। फलतः श्री गुलवणी जी महाराज स्वामी जी को अपने घर ले गये।

'साधु सन्त का गृह गमन, सभी पर्वों का सम्मिलन।'

स्वामी जी का सहवास बहुत ही सुखप्रद था। 'शक्तिपात' तत्त्व के अनभिज्ञों को भी उनकी संगति तुष्टि देती थी, जैसे नर्मदा मैया अपने निर्दिष्ट मार्ग से जाते हुये तट निवासियों को लाभान्वित करती है। स्वामी जी के मौन, चैतन्यमय, जीवन-व्यापक आनन्द प्रदान करने में समर्थ व्यक्तित्व से सभी आकृष्ट थे। श्री गुलवणी जी स्वामी जी को घर तो ले आये, किन्तु

मजा यह था कि दोनों मौन प्रकृति के होने के कारण अपने-अपने नित्य कर्म में रत थे। कोई किसी से विशेषरूप से बातचीत नहीं करता था। संध्या के समय जब दोनों नर्मदा के किनारे टहलने जाते, तब घण्टों लगाते, किन्तु अधिक बात-चीत नहीं होती थी। एक विचार करता था कि 'सर्वज्ञ से क्या पूछा जाय ?' तो दूसरा मन में सोचता था कि बिना पूछे क्यों बोलें ? फिर भी स्नेह, सन्तोष में त्रुटि नहीं थी।

'वाद विवाद विष घना, बोले बहुत उपाध।
मौन गहै, सबकी सहै, सुमिरै नाम अगाध ॥'

श्री स्वामी जी तथा श्री गुलवणी जी का सहवास प्रतिदिन शुक्लेन्दुवत् परिवर्धित हो रहा था।

अब स्वामी जी का स्वास्थ्य धीरे-धीरे सुधर रहा था। श्री दादासाहब पराण्डे घी-दूध खाने के लिये कहा करते थे और गुरु महाराज प्रेम से खिलाते थे। उनकी आतिथ्य-सत्कारवृत्ति अवश्यमेव दर्शनीय थी।

- एक दिन स्वामी जी की प्रसन्नता देखकर श्री गुलवणी महाराज ने अपने को दीक्षा देने के सम्बन्ध में कहा। स्वामी जी के सामने शास्त्र-सिद्धान्त खड़ा हुआ। शास्त्र साम्प्रदायिक परम्परा की मर्यादा को संभाल कर चलते हैं और किसी के श्रद्धा-स्थान को हानि नहीं पहुँचाते। अतः मन में दीक्षा देने की इच्छा होते हुए भी उन्होंने शास्त्र-मर्यादा का उल्लंघन उचित नहीं समझा। वे बोले—'देखो वामन ! तुम्हारा जो अभ्यास शुरू है, उसे ही चलने दो। अभी अन्य साधन का हस्तक्षेप उचित नहीं।' स्वामी जी से उत्तर मिलने पर श्री गुलवणी महाराज ने मन को समझाया—

'धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।

माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय।।'

प्रसाद चिह्नानि पुरः फलानि

श्री गुलवणी महाराज का योगाभ्यास एवं जपानुष्ठान नित्य यथा क्रम चल रहा था। कुछ दिन पूर्व श्री क्षेत्र पुष्कर में बीमारी के कारण प्राणायामादि का अभ्यास बन्द था, किन्तु होशंगाबाद में वह विक्षेप नहीं था। तीव्र अभ्यास के कारण शरीर हल्का एवं मुलायम बन गया था।

यद्यपि श्री वामनराव जी तितिक्षापूर्वक अभ्यास में रत थे फिर भी श्री स्वामी जी की दीक्षा-पद्धति ने उनको प्रभावित किया था। उन्होंने दीक्षा-सम्बन्धी इच्छा व्यक्त की थी, किन्तु स्वामी जी से स्वीकृति नहीं मिली। अतः 'ईश्वरेच्छा' समझ कर वे शान्त थे। फिर भी उनकी लगन तो मिटी नहीं थी।

दीक्षा न सही, पर स्वामी जी का मङ्गल सहवास तो दिन-रात मिलता रहा। चित्त की प्रसन्नता बढ़ती थी। साथ भोजन, साथ घूमना, साथ सोना आदि से उन्हें आश्वासन मिल रहा था। भगवती की इच्छा की प्रतीक्षा कर रहे थे। स्वामी जी को घर आये १०-१५ दिन हुये थे।

कार्तिक शुक्ला एकादशी का पंढरपुर में विशेष माहात्म्य है। सभी विठ्ठल-भक्त उत्साह और भावसम्पन्न होकर पंढरपुर जाते हैं। श्री वैद्य मास्टर पांडुरंग के अनन्य भक्त थे। वे एकादशी के पूर्व ही होशंगाबाद से पंढरपुर के लिए चल पड़े। श्री बाबा महाजन तो इनके पहले ही अपने गाँव गये थे। अब होशंगाबाद में केवल तीनों जन और चौथे स्वामी जी रह गये।

कार्तिक कृष्ण पक्ष में श्री वामनराव जी को एक शुभ सूचक स्वप्न आया। वह एकादशी या द्वादशी का दिन होगा। वास्तविक वे स्वप्नों के आदी नहीं थे, फिर भी यह स्वप्न आया और मन को विशेष स्फुरणा दे गया।

स्वप्न में उसी कमरे का दृश्य था जहाँ वे वर्तमान में रहते थे। स्वामी जी इनकी तरफ धीरे-धीरे आ रहे थे। श्री वामनराव जी दरी पर बैठे हुए थे। स्वामी जी की आँखें श्री वामनराव जी की आँखों में गढ़ी हुई थीं। स्वामी जी ने निकट आकर कहा—'वामन, बैठो! आज तुम्हारी दीक्षा होगी। अब देखो तुम्हारी शक्ति जागृत होती है या नहीं।' यह सुनकर वामनराव जी फूले न समाये और स्वामी जी के चरणों पर नतमस्तक हुए। आसन पर बैठे ही थे कि......।

'आँखें मूँद लो' कहते-कहते स्वामी जी ने माथे पर हाथ रख दिया। कुछ क्षण वहीं रखा। पश्चात् रीढ़ को नीचे से ऊपर तक हस्तांगुष्ठ से स्पर्श किया। एक दम धुँआधार क्रियाएँ होने लगीं। क्रियाओं की उथल-पुथल से नींद टूटी। आँखें खोलकर देखा तो मालूम हुआ कि वह तो स्वप्न था। श्री स्वामी जी चारपाई पर ध्यानमग्न बैठे हुए थे। उत्तर रात्रि की शुभ घड़ी थी।

श्री गुलवणी महाराज स्वप्न का अर्थ लगाने में लीन हुए। मानस शास्त्र के सिध्दान्तानुसार मान लिया कि जिसका हम बार-बार विचार किया करते हैं, वही वस्तु-विचार साक्षात् गोचर होने लगते हैं। अतः स्वप्न को विशेष महत्व न देते हुए उनको लगता था कि जब यह सारा दृश्य जगत् ही स्वप्नवत् मिथ्या है तो इस स्वप्न को ही सत्य क्यों मानना चाहिए ? यदि सच होगा तो प्रत्यक्ष अनुभव होगा ही,—अभी से इसका अधिक विचार क्यों करें ?

भविष्य की मंगल-घटना को करुणानिधि भगवान् ने स्वप्न द्वारा सूचित किया था।

श्री वामनराव जी का दीक्षा-प्रसंग

सन् १९२२ का वर्ष श्री वामनराव जी के जीवन में विशेष महत्त्व रखता है। प्रति वर्ष श्री गुरुद्वादशी पर श्री क्षेत्र नरसिंह-वाड़ी जाना उनका नियम था। कितने भी आर्थिक या शारीरिक विघ्न होने पर भी उनका यह नियम अटूट था। एक समय वे काशी में थे, किन्तु गुरुद्वादशी पर वे नरसिंहवाड़ी जाकर वापिस काशी में आये थे। इस वर्ष श्री स्वामी जी के रूप में योगेश्वर दत्तात्रेय भगवान् ही उनके यहां उपस्थित थे। अतः श्री वामनराव जी का नरसिंहवाड़ी जाने का प्रतिवर्षीय नियम इस वर्ष भङ्ग हुआ। श्री गुरुचरण छोड़कर जाने का मन नहीं होता था।

श्री स्वामी जी और श्री वामनराव जी का यह मिलन केवल 'मणिकाञ्चन' योग ही नहीं था, अपितु इसे अवधूत शिरोमणि महायोगेश्वर भगवान् दत्तात्रेय का संङ्कल्प ही समझना चाहिए। महायोग द्वारा अज्ञान-तिमिर का नाश करने के हेतु ही यह विधि-घटना हुई थी। अभी का स्फुल्लिंग आगे चलकर सहस्र-रश्मिओं से मण्डित मार्तण्ड बनने वाला था। एक सूक्ष्म जलधारा विशालकाय भागीरथी होने वाली थी।

स्वप्न-प्रसंग से श्री वामनराव जी का मन उल्लसित हो रहा था, फिर भी मन में एक शंका बनी रहती थी कि श्री स्वामी जी के यहाँ साक्षात् होते हुए स्वप्न द्वारा दीक्षा होना असंभव है। उन्होंने यह घटना किसी से व्यक्त नहीं की।

दूसरे दिन नित्य क्रमानुसार सभी टहलने निकले, किन्तु

प्रतिदिन की अपेक्षा आज जल्दी ही लौट आये। आकर श्री स्वामी जी चारपाई पर बैठे। उनके वाम-दक्षिण बाजू पर भूमि पर श्री शंकर काका तथा श्री माता जी बैठी थीं। सन्मुख दरी पर श्री वामनराव थे। कोई विशेष बातें नहीं चली थीं। किसी के एकाध सवाल का उत्तर मिलता था, और बस। श्री स्वामी जी ने अचानक सवाल किया—

'वामन! क्या प्राणायाम के अभ्यास से कुछ लाभ हुआ?'

'हां! शरीर हल्का-सा लगता है।'

'जिस उद्देश्य से तुम अभ्यास कर रहे हो, क्या उसका जागरण हुआ?'

'अब तक नहीं हुआ स्वामी जी!'

'कितनी महनत है तुम्हारी! मुझे तुम पर दया आती है। तुम्हारी तितिक्षा प्रशंसनीय है, किन्तु कितने दिन तक ऐसा चलता रहेगा?'

'क्या आपकी मेरे ऊपर कृपा होगी? मुझे शीघ्र कुछ अनुभव होगा?'

'क्यों नहीं होगा? 'रवि नहिं लखियत बारि मसाल। हाथ कंगन को देखने के लिए ऐनक की क्या जरूरत? अभी आँखें बन्द करके देखो!'

इस वाक्य को श्री स्वामी जी ने समाप्त किया ही था कि वामनराव जी में तूफान मचा। तीव्र क्रिया-वेग आरम्भ हुआ। शरीर का इधर से उधर पटकना शुरू हुआ। श्वास-प्रश्वासों की गति बढ़ गई। 'क्या हो रहा है'—इसका भान होते हुए भी वे क्रियाओं को दबा नहीं सके। अब जो-जो क्रियायें हो रही थीं, वे उन्हें सावधानी से देखते जा रहे थे। आँखें बन्द थीं। इन सारी क्रियाओं का केन्द्र-बिन्दु मूलाधार ही था, यह उन्हें पता

चल गया था। जितनी तीव्र गति से फव्वारे की नोक से पानी

दूर फेंका जाता है और वहां से अगणित जलधारायें तथा सीकर-पुञ्ज उद्भूत होता है, वैसा ही कुछ आश्चर्यजनक अनुभव हो रहा था। जो कुण्डलिनी के सम्बन्ध में पढ़े थे, उनमें से कतिपय अनुभव हो रहे थे। पूरा एक घण्टा क्रियायें चलीं। भीतर आनन्द की वर्षा हो रही थी।

'गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहन गम्भीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजं दास कबीर ॥'

जिस शक्ति-जागृति के लिए कई दिनों की प्रतीक्षा करनी पड़ती, वह केवल एक झटके से क्षणार्ध में हो सकती है। श्री सद्गुरु कृपा का क्या वर्णन करें ?

'गूङ्गा हुआ बावला, बहरा हुआ कान।
पाऊँ थै पंगुल भया, सतगुरु मार्या बान ॥'

श्री सद्गुरु की असीम कृपा ने ही आज का स्वर्णिम दिन प्राप्त करवाया था। प० पू० श्री वासुदेवानन्द सरस्वति का स्मरण हो आया। सानन्दाश्रु भावपूर्ण स्मृति-पुष्पों का सिंचन हो रहा था और साक्षीरूप में हृदय-मन्दिर में तृप्ति का अवतरण हो चुका था।

'आज आनन्द आनन्द, भरा मन में पूर्णानन्द।
अनिर्वाच्य बोलूं कैसा, बुद्धि बोध स्तब्ध जैसा ॥
नित्यानन्द सद्गुरु रूपा, देखा देखो मृत्यु भागा।
वाके पैंतरी नाऊँ माथा, जासे भागे द्वैत थोता ॥
वे ही वासुदेव चरण, स्मृतगामी धन्य-धन्य ॥'

श्री गुलवणी महाराज उठे और श्री स्वामी जी के चरण-कमलों पर मस्तक रख दिया। [क्रमशः]

उपनिषद् में उपासना

—श्री बसन्त कुमार चट्टोपाध्याय—

उप+आस् से युच् प्रत्यय, प्रत्यय के स्थान पर 'अन' आदेश तथा स्त्री लिङ्ग में आप् प्रत्यय करने पर 'उपासना' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—उपवेशन करना, पास बैठना। ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान् है। उसके समीप में या दूर में कैसे बैठा जा सकता है? जब हम ब्रह्म के विषय में चिन्तन करते हैं, तब ब्रह्म के समीप में रहते हैं। जब उसका चिन्तन नहीं करते, तो दूर हो जाते हैं। खड़े होकर चिन्तन करने से मन विक्षिप्त हो जाता है, सोकर चिन्तन करने से निद्रा-ग्रस्त होने की सम्भावना है। इसी कारण बैठकर चिन्तन करने के लिये कहा गया है—

'आसीनः सम्भवात्।' —ब्रह्मसूत्र ४।१।७

इस सूत्र में व्यास जी कहते हैं कि—'बैठकर उपासना करनी चाहिये' क्योंकि बैठकर करने से ही उपासना होती है।

'आवृत्तिरसकृद् उपदेशात्।' —ब्रह्मसूत्र ४।१।१

इस सूत्र में व्यास जी ने कहा है कि केवल एक बार ब्रह्म के विषय में चिन्तन करने से काम नहीं चलेगा, 'असकृत्'—बार-बार चिन्तन करना पड़ेगा। उपदेशात्—क्योंकि उपनिषद् ने ऐसा ही

उपदेश किया है। इस सूत्र के भाष्य में शंकर और रामानुज दोनों ने ही यह उपनिषद्-वाक्य उद्धृत किया है—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

—बृहदारण्यक ४।५।६

इसका अर्थ यह है कि—'ब्रह्म का दर्शन करना होगा। इसके लिए पहले 'श्रोतव्यः' अर्थात् ब्रह्म के विषय में वेद क्या कहते हैं, इसे सुनना होगा। तत्पश्चात् 'मन्तव्यः' अर्थात् ब्रह्म के विषय में आलोचना करनी होगी, ब्रह्म के अस्तित्व के पक्ष या विपक्ष में जो युक्तियां दी जाती हैं, उन सब पर विचार करना होगा। तत्पश्चात् 'निदिध्यासितव्यः' अर्थात् ध्यान करना होगा। तैलधारा के समान अविच्छिन्न-भाव से चिन्तन करना होगा। माला-जप करने पर अविच्छिन्न-भाव से भगवान् के विषय में चिन्तन करने में सुविधा होती है। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि—'किसी स्त्री का स्वामी विदेश में गया हुआ हो तो जैसे वह अपने स्वामी के चिन्तन में तन्मय हो जाती है, ब्रह्म के चिन्तन में भी वैसे ही तन्मय होना पड़ेगा।'

ब्रह्म देखा नहीं जाता, सुना नहीं जाता, तब फिर उसके विषय में चिन्तन कैसे किया जायगा? इसके लिये उपनिषद् ने प्रतीक-उपासना की व्यवस्था की है।

'मनो ब्रह्म इत्युपासीत्।' — छान्दोग्य० ३।१८।१

'मन की ब्रह्म रूप में उपासना करे।' ब्रह्म जैसे सूक्ष्म है, मन भी उसी प्रकार सूक्ष्म है। ब्रह्म विशाल है तो मन भी विशाल है। इसी प्रकार आकाश आदि वस्तुओं की भी ब्रह्म के रूप में उपासना करने की बात आती है।

'आदित्यो ब्रह्म इति आदेशः।' —३।१६।१

अर्थात् 'सूर्य की ब्रह्म के रूप में अवश्य पूजा करें।' ब्रह्म

ज्योतिर्मय है, सूर्य भी ज्योतिर्मय है। ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति का कारण है, सूर्य भी सौर जगत् की उत्पत्ति का कारण है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्म का सूर्य के रूप में चिन्तन करें या सूर्य का ब्रह्म के रूप में चिन्तन करें ? व्यास जी इसकी मीमांसा करके कहते हैं कि सूर्य का ब्रह्म के रूप में चिन्तन करें--

'ब्रह्मदृष्टिः उत्कर्षात् ।' —ब्रह्मसूत्र ४।१।५

अर्थात् 'ब्रह्म सूर्य की अपेक्षा उत्कृष्ट है। अतएव सूर्य का ब्रह्मरूप में चिन्तन करना चाहिये। राजकर्मचारी को राजा कहने में कोई हानि नहीं है, किन्तु राजा को राजकर्मचारी कहने से राजा का अपमान हो जायगा। इसमें हानि हो सकती है।

'किस दिशा में मुँह करके बैठना चाहिये ? गुफा में या नदी के तीर पर बैठने का प्रयोजन क्या है ?' इन प्रश्नों के उत्तर में व्यास जी कहते हैं--

'यत्र एकाग्रता तत्र अविशेषात् ।' —४।१।११

अर्थात् 'जहाँ बैठने में एकाग्रता हो उसी स्थान में बैठना चाहिये। इसके लिये अन्य कोई नियम नहीं है।' 'यावज्जीवन ईश्वरोपासना करना कर्तव्य है।'

'आप्रयाणात् तत्रापि हि दृष्टम् ।' ---ब्रह्मसूत्र ४।१।१२

इस विषय में उपनिषद् ने कहा है—

'स खलु एवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते ।' -- छान्दोग्य ८।१५।१

'उपर्युक्त प्रकार से साधन करते रहने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है और पुनर्जन्म नहीं होता।' ईश्वर के उपासक को जीवन-

पर्यन्त वैदिक नित्य कर्मों को चित्त लगाकर करते रहना उचित है। ईशोपनिषद् कहता है--

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषत् शतं समाः।' ---ईश० २

'शास्त्रविहित कर्मों को करते हुए ही सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करे।' निष्काम और अनासक्त भाव से शास्त्रविहित कर्मों को करने से पाप का क्षय होता है, चित्त शुद्ध होता है, अतएव जितना ही दीर्घकाल तक इस प्रकार कर्म किया जाय, उतना ही अच्छा है। शास्त्रविहित कर्म अर्थ न जानकर भी करने से फल होता है। छान्दोग्य-उपनिषद् १।१।१० में कहा गया है--

'यदेव हि विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।'

अर्थात् 'जो कर्म अर्थ जानकर श्रद्धा के साथ किया जाता है, वह अधिकतर शक्तिमान् होता है।' 'वीर्यवत्तर' शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है कि 'अर्थ न जानकर मन्त्र पढ़ने पर भी वह कर्म 'वीर्यवत्' अर्थात् शक्तिमान् होता है और अर्थ जानकर पढ़ने से अधिक शक्तिमान् होता है।' जो लोग किसी अचेतन वस्तु की अथवा अचेतन मिश्रित चेतन वस्तु की ब्रह्मरूप में उपासना करते हैं, वे लोग देवयानपथ से गमन करके ब्रह्म की प्राप्ति नहीं कर सकते। छान्दोग्य-उपनिषद् ७।१।५ में कहा है--

'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति।'

अर्थात् 'जो आदमी नाम की ब्रह्मरूप में उपासना करता है, वह जहां तक नाम की गति है वहां तक जाता है। अन्यत्र शास्त्र में लिखा है--

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

—बृहन्नारदीय पुराण

अर्थात् 'कलियुग में हरिनाम का ही जप करे, हरिनाम के सिवा अन्य गति नहीं है।' दोनों वाक्यों का सामञ्जस्य करके कहा जा सकता है कि 'ईश्वर के नाम के सिवा अन्य कोई नाम जपने से ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। सदा ईश्वर का नाम-जप करने तथा ईश्वर का चिन्तन करने की चेष्टा करते रहने से ईश्वर की प्राप्ति होती है।' इसी प्रकार ईश्वर के द्वारा सृष्ट किसी वस्तु की (जैसे सूर्य की) ईश्वर के रूप में पूजा करने से, इस प्रकार प्रतीक उपासना के फल से ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु ईश्वर के किसी विग्रह की ईश्वर रूप में उपासना करने से ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। अन्यथा श्री चैतन्य पुरी श्रीजगन्नाथ विग्रह की ईश्वर के रूप में पूजा नहीं करते, श्री रामानुज स्वामी आजीवन श्री रङ्गनाथ स्वामी की सेवा-पूजा नहीं करते।

●

सुधा-सीकर

—अपने आपको सबसे छोटा समझने वाला मनुष्य वस्तुतः परमेश्वर की दृष्टि में सबसे ऊँचा है। —बुद्ध।

—यदि तू विश्व पर विजय प्राप्त करना चाहता है तो प्रथम अपने आप पर विजय प्राप्त कर, और यदि तू अपने आप पर विजय प्राप्त करना चाहता है तो रमणी-जगत् से पृथक् रह।

—अरस्तु।

पत्रावलि

[यदि आपके पास श्रीगुरुओं के कोई उपदेशात्मक पत्र हों तो दूसरों को भी उनसे लाभान्वित करने के लिये इस स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशनार्थ मूल पत्र अथवा उसकी प्रतिलिपि भेजने का कष्ट करें।

—सम्पादक]

[गुजराती से अनूदित]

विज्ञान भवन, ऋषिकेश

दिनांक २६-६-५४।

श्रीमान् जी !

परम शुभ आशीर्वाद।

आपका पत्र कल ही प्राप्त हुआ। पढ़कर सविशेष समाचार ज्ञात हुआ। अति प्रसन्नता हुई। पूर्व की स्मृति और गुरु-स्मरण से मन आत्मविभोर हुआ। महापुरुषों की कृपा विफल नहीं होती। समय पर उसका फल अवश्य मिलता है। सन् १९११ में नर्मदा तट पर गरुड़ेश्वर में श्री स्वामी जी वासुदेवानन्द सरस्वती नामक सिद्ध पुरुष विराजते थे। वहाँ योगाभ्यासी बलवन्तराव नामक साधक से मुझे श्री स्वामी योगीन्द्र योगीराज आत्मानन्द सरस्वती के विषय में ज्ञात हुआ। श्री बलवन्तराव श्री स्वामी जी के साथ में हिमालय नैपाल में स्वर्गद्वारी पर्वत पर एक गुफा में महासिद्ध

पुरुष के पास रहे थे और उन योगसिद्ध महापुरुष से योगाभ्यास की शिक्षा ग्रहण की थी। यह प्रसादी श्री गुरु जी की कृपा से मुझे भी प्राप्त हुई। हठयोग की विशेष क्रियाएँ शक्ति-चालन, ताड़न और परिधान युक्ति जिसे एक मात्र वे ही जानते थे, उनकी कृपा से इनका लाभ मुझे भी प्राप्त हुआ। चार वर्ष पश्चात् ब्रह्मावर्त में श्री योगेश्वर के दर्शन का लाभ भी मुझे प्राप्त हुआ। उन दिनों की स्मृति आपके पत्र से जागृत हुई और मन विह्वल हुआ। भाग्य की बात है। ऐसे प्रत्यक्ष शिवरूप गुरुओं का समागम हुआ और उन्होंने कृपा भी की, लेकिन जब तक समय नहीं आता तब तक काम पूरा बनता नहीं। 'कालेनात्मनि विदन्ति, सर्व वशात् गात् स्मृति पदं कालाय तस्मै नमः' ऐसी बात है। बातें बरसों की हैं। अब तो वे सिद्ध पुरुष हैं तो नहीं, परन्तु उनकी शक्ति-सामर्थ्य की स्मृति जैसी की तैसी बनी है। वह भी जीवन का एक समय था और आज भी जीवन का एक समय है तथापि भूतकाल की स्मृति सदा बनी रहेगी।

आपके पत्र की विगत विषय की चर्चा जब भगवद् कृपा से मिलन होगा, तब ही कहकर और सुनकर समाधान होगा। महापुरुषों के जीवन-चरित्र अलौकिक होते हैं। उनको कोई भाग्यवान् ही समझ कर सोच सकते हैं। उनका उपदेश ही परम कल्याणकारी होता है।

आपने श्री स्वामी जी महाराज के यहां देवास जाने का निश्चय किया, यह अहोभाग्य है। उनके यहाँ उनके कितने ही सात्विक शिष्यों का आपको समागम होगा। महायोग साधन करने वाले सब योगी गुरुदेव नारायण तीर्थ देव की सन्तान एक ही हैं। पूर्व के संस्कारवशात् इस जन्म में हम सब आत्मभाव से आ मिले हैं। यह भी दैव प्रेरणा की ही बात है। इस विषय में महायोग-

विज्ञान त्रयोदश प्रकाश पृष्ठ ३५५ में कहा है। मनुष्यों के पूर्व-

जन्म के सुकृत से इस जन्म में जिस समय तत्वज्ञान लाभ करने का अधिकार होता है, तो शैवी शक्ति ग्रहण करने की योग्यता आती है। तत्पश्चात् आत्मा को परम शक्ति प्रदायिनी मुक्तिरूप फल देने वाली शैवी शक्ति का गुरु द्वारा सम्बन्ध होता है। वह आपके समीप आ गया है। यह अहोभाग्य की बात है। यह आप का और हमारा किया हुआ नहीं होता, स्वयं शिवजी का किया हुआ होता है। इत्यादि।

आप की वर्षगाँठ के उपलक्ष में आपके दीर्घायु होने की कामना करता हूं। भगवद्कृपा से 'पश्येम शरद: शतं जीवेम शरद: शतात्' इत्यादि वेद-वचनानुसार दीर्घजीवी होकर सर्वदा सत्कर्म करते रहिये, यही कामना।

आपके पत्र से मन अति प्रसन्न हुआ है। आपका अभीष्ट सिद्ध हो, यही कामना है। आत्मभाव से हम सब एक ही हैं, इसलिये बड़े-छोटे की कामना की कोई बात ही नहीं है। बाकी मंगल। इति

नित्य मंगलाकाँक्षी,

— योगेन्द्र विज्ञानी

[२]

विज्ञान भवन, ऋषिकेश

दिनाँक १५-१२-४६

श्रीमान् जी शुभाशीर्वाद !

········ योग-साधन के लिए और विशेषकर महायोग साधन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति योगी गुरु श्रीमन्नारायण तीर्थ देव के सभी सन्तानों को चाहिये कि संवत्सर में १ मास अपने गुरु के सन्निकट रहकर साधना की पूर्ति कर लेवें, जैसा महायोग-

विज्ञान के दशम प्रकाश में पृष्ठ २६०-२६२ पर शिष्य के कर्त्तव्य के विषय में लिखा है। गुरु के समीप अवश्य रहना चाहिये। इस विषय में श्रीमान् पं०.........को धन्यवाद है। वे अपनी साधना के सभी धर्म-कर्म एवं योगाभ्यास महायोग-विज्ञान कथित शिव-शासन के नियमानुसार करते हैं। गुरु-कृपा के फलस्वरूप ईश्वर के अनुग्रह से उनका ज्ञान-ध्यान एवं त्याग-तपस्या का उत्कर्ष होता है एवं नित्य आत्मतुष्टि बढ़ती है। मन स्वभावतः शान्त, शून्य और एकाग्र होता है एवं अन्तर्जगत् के अलौकिक दिव्य भावसमूह बुद्धि में प्रकाश पाकर परम शान्ति और सन्तोष प्रदान करते हैं। आपने उनका संग किया है, अहोभाग्य की बात है। ग्वालियर स्टेट में श्री स्वामी जी महाराज के प्रायः शिष्यों को मैं जानता हूँ। मुझे बहुतों का परिचय है जिसमें पं०... ... ...जी की श्रद्धा-भक्ति एवं साधनोन्नति वास्तविक रही। उनकी एक निष्ठ गुरुभक्ति श्लाघनीय है। मेरा मन स्वाभाविक ही उनके प्रति आकृष्ट होता है। मैंने विशेष प्रकार से देखा है, उनका अन्त-रात्मा मन स्वभावतः शुद्ध एवं पवित्र है। आपने उनके साथ आना विचारा है, परम सौभाग्य की बात है।

आपके जाने के ८-१० रोज बाद... ... ...का पत्र मुझे मिला था। वह मेरठ नहीं आये थे। मुझे उनसे जो बातें कहनी थीं, पत्र द्वारा मैंने लिख दी थीं।

और विशेष क्या लिखूँ? महायोग विज्ञान पूज्यपाद योगी गुरुदेव का सत्य शिवज्ञान है। उनका हम सभी सन्तानों को उसमें कहा हुआ शिव-शासन अपनी साधनोन्नति का प्रशस्त पथ है। उसको मानकर चलना ही हमारा कर्त्तव्य है। मनुष्य-जन्म की सफलता इसी में है कि हम इसी जन्म में और स्वल्प समय में परमार्थ लाभ करके परम सुखी हो जायें। इसलिये ईश्वर के

अनुग्रह से भवसागर पार होने के लिए हमें महाप्रबल साधन महायोग की संप्राप्ति हुई है जो हमारे सभी अभीष्ट धर्म, अर्थ काम और मोक्ष देने में समर्थ है। भारत तो क्या, पृथ्वी में भी इस साधन के तुल्य दूसरा ऐसा साधन न देखा जाता है, न सुना है। अतएव हमें गुरुकृपा से कहीं भी चिन्ता, शंका व भय का कोई कारण नहीं है। बाकी संसार में तो सभी लोग सुख-दुःख का स्वप्न देखते ही हैं, उसमें भी किसी का भी मंगल नहीं है। मंगल एक मात्र गुरुप्रदत्त साधना योगाभ्यास करने में ही है जो हमें सहज में ही प्राप्त है। अतएव हम धन्य हैं, कृतार्थ हैं। और सब मंगल है। इति ओम्।

मंगलाकांक्षी,
—योगेन्द्र विज्ञानी

[२]

योगश्री पीठ,
दिनाँक ५-२-६८

प्रियवर……शुभ आशीर्वाद !

तुम्हारा पत्र दिनांक २९-१-६८ यहां शनिवार ता० ३-२-६८ की सायंकालीन डाक से पहुंचा। ६ दिन का विलम्ब डाक के कारण हुआ। रविवार को डाक निकलती नहीं, अत. एक दिन और देर हो गई। उत्तर की तुम प्रतीक्षा में होगे। दो वर्ष पश्चात् तुम्हारे कुशल-क्षेम का पत्र देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं ४ नवम्बर को देवास से चल पड़ा था, परन्तु लश्कर, दिल्ली में काफी समय लग गया। २५ दिसम्बर से यहाँ ही नये आश्रम पर मुनीकीरेती स्थित योग श्री पीठ पर हूं। मेरे साथ शिवोम तीर्थ, लाला जी गंगाप्रसाद और गोविन्दप्रकाश हैं। भोजनार्थ एक पहाड़ी लड़का

रखा हुआ है जो गोविन्दप्रकाश की देख-रेख में काम करता है। यहां सम्भवत: अप्रैल के आरम्भ तक रहना होगा। १३ अप्रैल से १२ मई तक अर्द्धकुम्भ के मेले की गर्दी में निकलना कठिन हो जायगा। उधर उज्जैन में भी उन ही दिनों सिंहस्थ का मेला है। यदि उन दिनों में प्रवास की कठिनाई के कारण यहाँ ही रहना हुआ तो देवास जून तक जाया जा सकेगा। अस्तु।

तुम्हारे पत्र से प्रतीत होता है कि यह प्रथम दीक्षा है, वैसे तो तुम्हें पहले ही अधिकार मिल चुका था। बड़ी प्रसन्नता है। मेरा आशीर्वाद एवं शुभ कामनायें सदा आप सब शिष्यों के प्रति हैं। ······ ने भी इलाहाबाद में दो एक आदमियों को दीक्षा दी है। श्री पूज्यपाद नारायणतीर्थ महाराज एवं अन्य गुरुओं के आशीर्वाद से शक्ति जगज्जननी स्वत: सब में मंगलमयी क्रियाएँ करती है। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध बड़ा पवित्र होता है। मैं उसे पिता-पुत्र के सम्बन्ध से ऊँचा मानता हूँ क्योंकि गुरु-शिष्य को मोहरूपी ससार-सागर से पार लगाता है और उसका अनुग्रह निरपेक्ष होता है। जो गुरु शिष्य से अपनी स्वार्थसिद्धि की कामना करते हैं, वे गुरु पद के महान् आदर्श से च्युत हो जाते हैं। वैसे तो शिष्य श्रद्धा सहित सेवा करने को यथाशक्ति सदा इच्छुक रहते ही हैं, इसलिये उन पर दया-प्रेम सहित व्यवहार करना गुरु की शोभा है। यदि कभी किसी कारण शासन करने की आवश्यकता हो जाय तो तब भी वह बाह्य दिखावा मात्र होना चाहिये, आन्तरिक भाव में कभी शिष्य के अमंगल की वृत्ति नहीं उठनी चाहिये। कहा है—'कोपोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः।' गुरु का बाह्य कोप यदि शासन के समय दीख पड़े तो वह इसी कोटि का होता है, नहीं तो गुरु का क्रोध शिष्य का सर्वस्व हरण करने वाला हो सकता है।

यदि कुम्भ के समय हरिद्वार आने का संकल्प हो तो यहाँ

आश्रम पर अवश्य आना। नासिक से तुम्हारे किसी प्रेमी भक्त के कई पत्र देवास आये थे, आप का पता पूछा था, परन्तु हमें ही नहीं ज्ञात था कि कहाँ विचरण कर रहे हो। यदि मिलना न हो तो भी पत्र-व्यवहार तो अवश्य रखना चाहिये। ······भी तुम्हारे मौन से खिन्न रहते हैं। पत्नी के देहान्तोपरान्त कभी उज्जैन, कभी देवास आने-जाने के कारण परेशानी में रहते हैं, तो भी आश्रम पर जब समय मिलता है,··········को साथ लेकर आते रहते हैं।

दो वर्ष पूर्व यहाँ से रुष्ट होकर नैमिषारण्य चले गये। मुझे कितना बुरा लगा, यह तुम अनुमान नहीं कर सकते। परन्तु तुम्हारे स्वभाव से पूर्व परिचित होने के कारण कुछ न कह सका। तुम्हारे रोष का कारण इतना ही था कि··· और उनकी पत्नी आई थीं। मैं तो गृहस्थियों के घर पर रहने का अभ्यस्त हूँ, इस लिए वे लोग मेरे से संकोच नहीं करते। मेरे प्रति सब का व्यवहार बहिन-बेटियों जैसा होता है। पिता क्या बेटियों को आने से रोक सकता है? यह मैंने इसलिये लिखा कि अब तुम गुरु बनने जा रहे हो, शिष्यों की बहू-बेटियां आवेंगी। उनसे संकोचवश, क्रोधावेश में आकर उनका अपमान नहीं करना। साधु की साधुता का लक्षण यही है कि स्त्री-पुरुष में भेद न देखे। सब स्त्रियाँ भगवती के ही रूप हैं। दुर्गा सप्तशती में कहा है—'विद्या समस्ता तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ता सकला जगत्सु।'

यहाँ सब कुशल है। अपने दीक्षार्थी पंडित जी को मेरा आशीर्वाद कहें।

सस्नेह शुभचिन्तक,
—विष्णुतीर्थ

देशव्यापी भ्रष्टाचार

—श्री १००८ श्री स्वमी विष्णुतीर्थ जी महाराज—

पत्र-पत्रिकाओं में देशव्यापी भ्रष्टाचार की चर्चा देख कर वह सज्जन बड़े असमञ्जस में पड़ गये।

वह सोचने लगे—सब लोग तो भले मानस दीख पड़ते हैं। भ्रष्टाचार शब्द का कोई रूढ़ी अर्थ होगा। काशी में पढ़े एक परिचित शास्त्री जी से भ्रष्टाचार के अर्थ पूछ बैठे तो वह एक दम उबल पड़े—

'इस काँग्रेसी सरकार ने तो ब्राह्मण और भंगी, चमार सब एक कर दिये हैं। सर्वत्र भ्रष्टाचार देखने में आ रहा है। होटलों में भंगी ब्राह्मण से सट कर बैठता है और उसे कोई नहीं रोक सकता। हम ने तो इस कारण होटलों में खाना ही छोड़ दिया है।'

शास्त्री जी को गीता का श्लोक सुनाया तो बोले—

'शुनिचैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' का भाव यह नहीं कि हम (शुनि) कुत्तों के साथ उसी थाल में खाने लगें। मेहतरों को झूटे टुकड़े न दो। जो स्वयं खाते हो, वही देना चाहिये और उनके साथ मनुष्यों का सा सद् व्यवहार करना चाहिये। परन्तु किस समाज में ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं है? क्या मन्त्री-पदासीन मुसलमान किसी मुसलमान भंगी को अपने साथ भोजन कराता है? क्या वह अपनी लड़की का विवाह किसी पढ़े लिखे

भंगी से करने को तैयार है ? 'औरन के उपदेश को सभी गुरु भरपूर' हैं। यही तो भ्रष्टाचार है।

उन सज्जन का इस से सन्तोष न हुआ। मार्ग में एक दण्डी संन्यासी से जिज्ञासा की तो स्वामी जी जल्दी में होने के कारण चलते-चलते कहने लगे—

'नारायण ! क्या पूछते हो ? आजकल तो करपात्री जैसे जेलों के टुकड़े खाने लगे हैं। घोर अनर्थ है।'

भक्त बोला—महाराज ! जेल में काली कमली वाले क्षेत्र के टुकड़ों से तो कहीं अच्छा भोजन मिलता है।

स्वामी जी यह सुनने के लिए रुके नहीं, चले गये।

अशान्त जिज्ञासु गंगा के तट पर जा बैठा। वहाँ समाज-सुधार की चर्चा चल रही थी। वे सब भारत के मुख्य तीर्थों की यात्रा कर रहे थे। पण्डों का यात्रियों के साथ दुर्व्यवहार, धोखा, राक्षसी कृत्य, मन्दिरों में भगवान् के पुजारियों की लूट-खसोट, विशेषकर नाथद्वारे के वैष्णव भक्तों के दुश्चरित्र, गया और काशी के पण्डों के हथकण्डे; योग विद्या को अपमानित करने वाले, टके-टके के लिए समाधि का प्रदर्शन करने वाले नट स्वरूप समाधि-नाथों के खेल; साधु समाज को कलङ्कित करने वाले अशिक्षित, पाखण्डी, भोगासक्त, परिश्रम से बचने वाले, भोली श्रद्धालु जनता को ठगकर हलुआ-पूरी उड़ाने वाले साधु वेषधारी और छोटी आयु वाले बालक नाथ एवं युवक वैरागी; धूनी वाले, तपोमूर्ति उदासी संन्यासियों के भीख माँगने, चोरी-जुआ आदि तीर्थ स्थानों के अनेक दोष उन के वार्तालाप के विषय थे। इस भयंकर भ्रष्टाचार के लिए महन्तों, मण्डलेश्वरों, गुरुओं एवं आचार्यों को वे उत्तरदायी ठहरा रहे थे।

वह महाशय सोचने लगे कि यह सब तो एकांगी भ्रष्टाचार है। देशव्यापी की व्याख्या तो कोई देश का नेता ही कर सकता है।

इस बीच किसी कार्यवश उन्हें लखनऊ जाना पड़ा। वह रेल के ड्योढ़े वर्ग में यात्रा कर रहे थे। एक ओर तो कई भले मानस सिकुड़कर सटे बैठे थे और सामने सारी बैंच पर बिस्तर बिछा कर पाँव पसारे एक खादीधारी सज्जन कुछ पढ़ रहे थे। झगड़ा न मोल लेने की भारतीय नीति के अनुसार कोई थोड़ा सिमटकर बैठने को उनसे कहने का साहस नहीं कर रहा था। परन्तु एक मनचले युवक से न रहा गया तो उस ने मीठी भाषा में व्यंग भरे शब्दों द्वारा उन का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया।

खादी-धारी सज्जन उसके आक्षेपों से कुछ चिढ़ गये और पालती मार कर बैठ गये। बस, वह युवक झट से उनके बिस्तर के रिक्त स्थान पर जा डटा। इस काम में एक अन्य ने भी उस का साथ दे दिया। अब देश की परिस्थिति, महँगाई, कंट्रोल आदि पर वार्तालाप का क्रम चला। बातों में पता चला कि वह खादी-धारी सज्जन प्रादेशिक विधान-सभा के सदस्य थे और दूसरे वर्ग के भाड़े की बचत करने के विचार से ड्योढ़े में ही यात्रा कर रहे थे, परन्तु सुख-सुविधा वह ऊपर के वर्ग की ही चाहते थे।

अवसर अच्छा जान हमारे जिज्ञासु महाशय ने अपना देश-व्यापी भ्रष्टाचार का प्रश्न छेड़ दिया। वह सदस्य क्रुद्ध तो पहिले ही रहे थे, यह प्रश्न सुनकर आग बगूला हो गये। क्रोध में लाल वर्ण होकर बोले—

'नालायक हैं ये लोग, कांग्रेस को बदनाम करना चाहते हैं। स्वतन्त्रता के युद्ध में जब हमने यातनाएँ सहीं, तब तो कोई पास

तक नहीं फटका । अब जब सत्ता हमारे हाथ में आ गई है तो जलते हैं, द्वेष करते हैं और मिथ्या आरोप लगाते हैं ।

जिज्ञासु महाशय भौंचक्के-से रह गये ।

'महोदय, मैंने तो कांग्रेसियों पर कोई आरोप नहीं लगाया । आप बुरा क्यों मान बैठे ? क्या सचमुच ऐसा ही है जैसा आप कह रहे हैं ?'

यह सुनकर उनका पारा और ऊपर चढ़ गया । इसी प्रकार नोक-झोंक करते लखनऊ आ गया और सब तीन-तेरह हो बिखर गये ।

जिज्ञासु सज्जन से मार्ग में रिक्षा वाले ने बताया कि वह दिन में कठिनाई से रुपया, डेढ़ रुपया कमा पाता है । उस में से कुछ रिक्षा-मालिक को भाड़े मद्धे चला जाता है और कुछ पुलिस वालों की मुठ्ठी गरम करनी पड़ती है । जो बचता है उस से जैसे-तैसे कभी एक और कभी दो छाक भोजन घर वालों के लिए जुटा पाता है ।

मित्र के स्वागत-सत्कार में वह यह सब भूल गये और परिवार के उस सुखी वातावरण में भ्रष्टाचार उन से कोसों दूर भाग गया । मित्र ठेकेदार हैं । नगर में पाँच-सात मकान और दुकानें हैं । उन का भाड़ा मोटा आता है । समाज में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा है । भोजनोपरान्त सब अपने-अपने कार्य से इधर-उधर चले गये । सायंकाल फिर सब एकत्र हुए तो घर-बाहर की बातें चलीं । मित्र कार्य-व्यवहार सम्बन्धी अपनी कठिनाइयाँ बताने लगे--

'हमारा सम्पर्क पब्लिक वर्क्स विभाग, अदालतों और रेलवे कर्मचारियों से अधिक रहता है । कभी-कभी पुलिस वालों से भी काम पड़ जाता है । व्यापारियों और जनसाधारण से तो हर समय

भुगतना पड़ता ही है। कहीं भी सत्य और ईमानदारी से काम नहीं चलता। सर्वत्र नैतिक पतन होता जा रहा है। पैसे के लिए आदमी बुरे से बुरा, दीन से दीन काम करने को तैयार रहता है। धनवान् तो अपना काम येन केन प्रकारेण सिद्ध कर ही लेता है, मरना तो धनहीन का है जो सब ओर धक्के खा, समय व्यर्थ नष्ट कर अन्त में निराश लौट आता है। कचहरी में चपरासी, अहलकार, वकील, मुहर्रिर सब शिकार की ताक में बैठे रहते हैं। कोई-कोई तो जज भी न्याय के नाम पर सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा सिद्ध करने में पारंगत है।

'पुलिस की बात ही क्या है ? ये जनता के रक्षक गुण्डों, जेब-कतरों और चोरों के दलाल बन जाते हैं। रेलवे वालों को कमीशन बँधी हुई है और पब्लिक वर्क्स (समाज-सेवा) विभाग, जिस की दया पर हम पलते हैं, दोनों हाथ सरकारी पैसा खाता और बखेरता है। प्रत्येक अधिकारी का बन्धेज बन्धा हुआ है। इसे घूस नहीं, वे अपना अधिकार समझते हैं। इस प्रकार घूस को अनुचित मांग न कह कर न्याययुक्त अधिकार ही कहना चाहिये क्योंकि यह सब छिप कर तो होता नहीं, खुले व्यवहार के रूप में किया जाता है। जिस कार्य में सब ही भागीदार हों, वहाँ छिपाव किस से हो ?'

'व्यापार में तो दलाल होते ही हैं, परन्तु वकीलों, जजों, पुलिस तथा अन्य विभागों के दलालों का भी एक वर्ग है। दलाली के इस कार्य में पत्नियाँ कहीं-कहीं बहुत बढ़िया काम करती हैं। खाद्य पदार्थों में मिश्रण रोकने के लिए नियुक्त अधिकारी अपना बन्धा 'हक़' लेकर अधिक मिश्रण कराने के अपराधी होते हैं।'

'इस सब से जन साधारण को हानि होती हो, सो नहीं। इस

से सरकारी आय को भी बहुत घाटा पहुंचता है। यदि यही रोका जा सके तो अनेक कर लगाने की आवश्यकता न रह जाय। आय-कर की चोरी कराने में कई बार अधिकारियों का हाथ होता है। इन्हें देख कर ही सम्पत्तिवानों ने भी पगड़ी और नज़राना सीख लिया है। स्कूलों के मास्टर भी ट्यूशन के रूप में घूस खाने लगे हैं।'

'सो भाई जी, क्या पूछते हो? भ्रष्टाचार का तो देश भर में पूर्ण राज्य है।'

—oo—

महापुरुषों के वाक्य

—धन्यवाद के भाजन वे प्राणी हैं जो शान्ति-स्थापन में रत हैं, क्योंकि परमेश्वर की सन्तान उन्हीं को पुकारा जावेगा।—ईसा

—वे भी परमेश्वर के भक्त हैं जो शान्ति पूर्वक उसकी दी हुई कठिनाइयों को झेलते हैं और उनसे मुक्त होने की प्रतीक्षा में हैं।
—मिल्टन।

—आस्तिक वे मनुष्य नहीं हैं जो भगवान् का नाम लेते हैं, आस्तिक वे हैं जो भगवान् का काम करते हैं। —गाँधी।

—सच्चा धर्म इसमें नहीं है कि हम मन्दिरों में जावें, वरञ्च सच्चा धर्म इसमें है कि हम अपने पड़ोसी से प्रेम करें। —विनोबा।

—संसार के सभी देशों में तथा सभी युगों में महापुरुष हुए हैं, किन्तु खेद है कि हमने उनकी पूजा तो की, पर कहना बहुत कम माना। —नेहरू।

आश्रम-समाचार

जैसा कि सब पाठकों को विदित ही है, ब्रह्मलीन सद्गुरुदेव १००८ श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज की द्वितीय पुण्यतिथि बड़े समारोह के साथ मनाई गई जिसमें बाहर से आये तथा स्थानीय १५० भक्तवृन्द एवं लगभग १५० महात्माओं ने भाग लिया। पुण्यतिथि के २ दिन पूर्व श्री १००८ स्वामी शिवोम्‌तीर्थ जी महाराज देवास से ऋषिकेश पधारे थे। उस समय वे अस्वस्थ एवं चलने-फिरने में भी अशक्त थे। यहाँ गंगातट के निवास एवं उपचार से वे स्वस्थ हुए। उनकी देख-रेख में निर्माण-कार्य भी हुआ। वे दिनाँक ४-१२-७१ को ऋषिकेश से कनखल होते हुए नंगल पधारे हैं जहाँ वे १२-१२-७१ तक निवास करेंगे। तत्पश्चात् वे नंगल से नई दिल्ली पहुँचेंगे और दिसम्बर १९७१ के अन्त तक वहीं विराजेंगे। नई देहली का उनका पता है—द्वारा—डा० पी० के० मिश्र, डाइरैक्टर आफ हैल्थ, 57/c-II, वैलेज़ली रोड, नई दिल्ली। दिसम्बर के अन्त अथवा जनवरी के प्रारम्भ में वे नई दिल्ली से प्रस्थान करके ग्वालियर, मुरैना, अम्बाह, शिवपुरी आदि होते हुए जनवरी के मध्य से अन्त तक किसी भी समय देवास पहुँच जायेंगे। सम्प्रति उनका स्वास्थ्य ठीक है।

नियमावली

१—ग्राहक-सदस्यता जनवरी से ही पूरे वर्ष के लिये आरम्भ होगी। बीच में सदस्य बनने वालों को उस वर्ष के पिछले उपलब्ध अङ्क भेज दिये जावेंगे।

२—लेखकों से निवेदन है कि रचनायें कागज के एक ही ओर, पर्याप्त हाशिया छोड़कर, स्वच्छ अक्षरों में लिखकर भेजें। अधिक लम्बे लेखों को स्वीकार करना अभी कठिन है। अन्य पत्रिकाओं को भी प्रकाशनार्थ भेजी हुई अथवा अन्यत्र प्रकाशित रचनायें भेजने का कष्ट न करें।

३—लेखक अपनी रचनाओं की प्रतिलिपी अपने पास रख लें, अस्वीकृत रचनाओं को वापिस भेजने का प्रबन्ध नहीं है।

४—लेखों के परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन, छापने अथवा न छापने का अधिकार सम्पादक को रहेगा।

५—बाहर के विज्ञापन स्वीकार नहीं किये जाते।

६—आजीवन सदस्यता की राशि सर्वथा अपरिवर्तनीय है।

७—विदेशों में रहने वाले ग्राहक-सदस्यों को सामान्य शुल्क के अतिरिक्त डाक-व्यय भी देना पड़ेगा।

८—पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक क्रमाङ्क अवश्य दें। पत्र-व्यवहार तथा शुल्क भेजने का पता—व्यवस्थापक 'दिव्यानन्द', विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश (ज़ि० देहरादून) उ० प्र०।

९—पत्रोत्तर के लिए साथ जवाबी कार्ड अथवा लिफाफा आना आवश्यक है।

सत्वाधिकारी, सम्पादक तथा प्रकाशक श्री स्वामी शिवोमृतीर्थ जी के लिए, श्री देवेन्द्र विज्ञानी द्वारा विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश (देहरादून) उ०प्र० में मुद्रित तथा सिद्ध-साधन-संस्थान, नारायण कुटी, देवास (मध्य प्रदेश) से प्रकाशित।

